

आचार्यविद्यानन्दस्वामि-विरचिता

आप्तपरीक्षा

सम्पादन-विवेचन

प्रो. वीरसागर जैन

अध्यक्ष, जैनदर्शन विभाग

श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ
(मानित विश्वविद्यालय)

कटवारिया सराय, नई दिल्ली-110016

Phone : 011-26177207, Mo. 09868888607

Email : veersagarjain@gmail.com

प्रकाशक

अखिल भारतवर्षीय दि. जैन विद्वत्परिषद

प्रथम संस्करण : ?

प्रकाशकीय

मूल्य : ?

प्राप्ति स्थान : ?

मुद्रक : ?

अनुक्रम

क्र. विषय	पृष्ठ
1. प्राक्कथन	4
2. भूमिका	6
3. प्रस्तावना	10
4. आप्तपरीक्षा	कारिका
मंगलाचरण	1-5 तक 15
महेश्वर-परीक्षा	6-77 तक 20
कपिल-परीक्षा	78-83 तक 38
सुगत-परीक्षा	84-86 तक 40
परमपुरुष-परीक्षा	86 की टीका 42
अर्हत्-परीक्षा	87-121 तक 44
अर्हत्-सर्वज्ञसिद्धि	87-110 तक 45
अर्हत्-कर्मभूतभेतृत्वसिद्धि	111-115 तक 52
अर्हन्मोक्षमार्गनेतृत्वसिद्धि	116-119 तक 54
अर्हत्त्वन्द्यत्वसिद्धि	120-121 तक 55
उपसंहार	122-124 तक 57
5. परिशिष्ट	
(क) आप्तमीमांसा : एक अनुशीलन	59
(ख) आप्तपरीक्षा की कारिकानुक्रमणिका	85

प्राक्कथन

‘आप्तपरीक्षा’ एक अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं प्रयोजनभूत ग्रन्थ है, किन्तु आज उसके पढ़ने-पढ़ाने वाले बहुत कम रह गये हैं, जबकि यह ग्रन्थ प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में शास्त्री या आचार्य पाठ्यक्रम में निर्धारित भी है। इसकी टीका में निहित गूढ़-गंभीर प्रमेयों को समझना तो दूर, अधिकांश लोग इसकी मूल कारिकाओं में प्रतिपादित विषय-वस्तु को भी भलीभाँति नहीं समझ पाते हैं। अतएव मैंने यह अति संक्षिप्त विवेचन लिखने का प्रयास किया है।

यद्यपि टीका में निहित प्रमेय तो इसमें भी नहीं आ पाये हैं, किन्तु मैं समझता हूँ कि इसके माध्यम से आप्तपरीक्षा की मूलभूत विषय-वस्तु को सभी आसानी से समझ सकेंगे और उसके बाद यदि प्रयत्न करेंगे तो टीका में भी प्रवेश कर सकेंगे।

आप्तपरीक्षा को समझने में सहायक जानकर यहाँ मैंने अपना एक अन्य लेख ‘आप्तमीमांसा : एक अनुशीलन’ भी परिशिष्ट के रूप में जोड़ा है। आशा है यह भी लाभप्रद रहेगा।

यदि इस कृति में कहीं कोई संशोधन प्रतीत हो तो सुधी जनों से निवेदन है कि वे उसकी ओर मेरा ध्यान आकर्षित करने की कृपा करें, ताकि उसे अगले संस्करण में ठीक किया जा सके।

पूज्य गुरुदेव डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल ने इस कृति की भूमिका लिखकर मुझे जो प्रोत्साहन और आशीर्वाद प्रदान किया है, उसके लिए मैं उन्हें कृतज्ञतापूर्वक प्रणाम करता हूँ।

- वीरसागर जैन

भूमिका

आप्त वह प्रामाणिक पुरुष है, जिसकी बात पर पूरा भरोसा किया जा सके। प्रमेयरत्नमाला में आचार्य अनन्तवीर्य लिखते हैं -

“यो यत्र अवशकः सः तत्र आप्तः।¹ - जो जहाँ अवञ्चक है, वह वहाँ आप्त है।”

आचार्य समन्तभद्र की दृष्टि में आप्त को 18 दोषों से रहित, सर्वज्ञ और आगम का आधार होना चाहिये। जिसमें ये तीन बातें न हों; वह आप्त नहीं हो सकता।²

आचार्य उमास्वामी ने महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र के मंगलाचरण में आप्त के स्वरूप को इसप्रकार स्पष्ट किया है -

“मोक्षमार्गस्य नेत्तारं, भेत्तारं कर्मभूमृताम्।

ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये॥

मोक्षमार्ग के नेता (उपदेशक), कर्मरूपी पर्वतों के भेदक अर्थात् वीतरागी और विश्वतत्त्वों के ज्ञाता अर्थात् सर्वज्ञ भगवान ही सच्चे आप्त हैं। मैं उक्त गुणों की प्राप्ति के लिये उन्हें नमस्कार करता हूँ।

आप्त के इस स्वरूप के आधार पर ही आचार्य समन्तभद्र ने देवागम स्तोत्र में आप्त की मीमांसा की है, आप्त के स्वरूप पर गहरा विचार किया है, गंभीर मंथन किया है। यही कारण है कि उक्त देवागम स्तोत्र को आप्त मीमांसा भी कहते हैं।

इसी आप्त मीमांसा के आधार पर आचार्य अकलंकदेव ने अष्टशती और आचार्य विद्यानन्द ने अष्टसहस्री जैसे ग्रन्थाधिराजों की रचना की है।

इस मीमांसा में सर्वथा एकान्तवाद का निषेध किया गया है और अनेकान्तवाद की स्थापना की गई है। ये ग्रन्थराज जैनदर्शन की निधि हैं, सर्वस्व हैं।

आप्तमीमांसा में विभिन्न दर्शनों में मान्य आप्तों की मीमांसा नहीं की है; अपितु विभिन्न दर्शनों द्वारा मान्य विभिन्न एकान्तों की समीक्षा की गई है।

विभिन्न एकान्तों की समीक्षा करने का कार्य तो आचार्य विद्यानन्दजी आप्तमीमांसा की टीका अष्टसहस्री में कर ही चुके थे। विभिन्न दर्शनों द्वारा मान्य आप्त पुरुषों के बारे में अभी उन्होंने कुछ भी नहीं लिखा था।

अतः इस आप्तपरीक्षा ग्रन्थ के माध्यम से उन्होंने विभिन्न दर्शनों द्वारा मान्य आप्त की परीक्षा की है। ध्यान रहे - यह मीमांसा नहीं, परीक्षा है।

सर्वप्रथम जगत के कर्ता-धर्ता ईश्वर के स्वरूप पर विचार किया गया है, जो सर्वाधिक विस्तार लिये है। 77 कारिकाओं में फैला यह परीक्षण अपने आप में अद्भुत है, अद्वितीय है।

उसके बाद क्रमशः सांख्यों द्वारा मान्य कपिल, बौद्धों द्वारा स्वीकृत सुगत, वैदान्तियों द्वारा मान्य ब्रह्म या परमपुरुष की परीक्षा की गई है।

इसके उपरान्त अर्हत् परीक्षा के अन्तर्गत अरहंत भगवान की वीतरागीता, सर्वज्ञता तथा हितोपदेशीपने पर विचार किया है। अरहंत भगवान को वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी सिद्ध किया गया है।

यह सिद्ध किया गया है कि सच्चे आप्त तो एकमात्र अरहंत ही है; शेष तो आत्माभिमान से दग्ध अवश्य हैं, पर आप्त नहीं।

इस ग्रन्थ का नाम आप्तपरीक्षा होने पर भी डॉ. वीरसागर ने इसके परिशिष्ट (क) में आप्तमीमांसा पर भी चर्चा की है। आप्तमीमांसा अपरनाम देवागम स्तोत्र जैन न्याय का मूल आधार है।

आचार्य समन्तभद्र, आचार्य अकलंक और आचार्य विद्यानन्द - ये तीनों दिग्गज आचार्य जैनन्याय की त्रिपुटी हैं। जैनन्याय का बहुभाग इस त्रिफुटी के अपरिमित श्रम का सुफल है।

डॉ. वीरसागर की यह छोटी सी कृति आपको जैनन्याय के मूल आधार से तो परिचित करायेंगी ही; आप्तपरीक्षा की विषय-वस्तु से भी परिचित करा देगी।

इस अति उपयोगी कृति के लिये मैं डॉ. वीरसागर को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ; उनके उज्ज्वल भविष्य की मंगल कामना करता हूँ। ●

दिनांक, 5 नवम्बर, 2015 ई.

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, जयपुर

1. प्रमेयरत्नमाला 3/95

2. रत्नकरण्डश्रावकाचार, छन्द 5

प्रस्तावना

1. आचार्य विद्यानन्द स्वामी और उनकी कृतियाँ -

यह 'आप्तपरीक्षा' नामक ग्रन्थ है। इसके रचयिता आचार्य विद्यानन्द स्वामी हैं, जिनका संक्षिप्त परिचय निम्नानुसार है-

“ये दक्षिण भारत के कर्नाटक प्रान्त के निवासी थे। इसी प्रदेश को इनकी साधना और कार्यभूमि होने का सौभाग्य प्राप्त है। किंवदंतियों के आधार पर यह माना जाता है कि इनका जन्म ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इस मान्यता की सिद्धि इनके प्रखर पाण्डित्य और महती विद्वत्ता से भी होती है। इन्होंने कुमारावस्था में ही वैशेषिक, न्याय, मीमांसा आदि दर्शनों का अध्ययन कर लिया था। ये दिग्गज, धर्मकीर्ति और प्रज्ञाकर आदि बौद्ध दार्शनिकों के मन्तव्यों से भी परिचित थे। शक संवत् 1320 के एक अभिलेख¹ में वर्णित नन्दिसंघ के मुनियों की नामावली में विद्यानन्द का नाम प्राप्त कर यह अनुमान सहज में लगाया जा सकता है कि इन्होंने नन्दिसंघ के किसी आचार्य से दीक्षा ग्रहण की होगी। जैन वाङ्मय का आलोड़न-विलोड़न कर इन्होंने अपूर्व पाण्डित्य प्राप्त किया। साथ ही मुनि-पद धारण कर तपश्चर्या द्वारा अपने चरित को भी निर्मल बनाया। आचार्य विद्यानन्द का समय ई. सन् की नवम शती है।”²

डॉ. दरबारीलाल कोठिया के अनुसार “आचार्य विद्यानन्द का समय ई. सन् 775 से ई. सन् 840 निर्णीत होता है।”³

आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने अनेक ग्रन्थों की रचना की है,

1. डॉ. हीरालाल जैन, जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, लेखांक 105
2. डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य, तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परंपरा, 2/348
3. डॉ. दरबारीलाल कोठिया द्वारा संपादित आप्तपरीक्षा, प्रस्तावना, पृष्ठ-84 (वीर सेवा मंदिर, सरसावा, 1949)

जिनमें से आज हमें निम्नलिखित 8 ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। इनमें से 5 मौलिक हैं और 3 टीकापरक। टीकापरक ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय निम्नानुसार है -

1. अष्टसहस्री⁴ - यह आचार्य समन्तभद्र कृत 'आप्तमीमांसा' की गूढ़-गम्भीर टीका है। इसका दूसरा नाम 'आप्तमीमांसासंस्कृति' भी है। दर्शन और न्याय के क्षेत्र में यह कृति एक मील का पत्थर मानी जाती है। इसके विषय में स्वयं आचार्य विद्यानन्द स्वामी का कहना है कि एक इस ग्रन्थ को पढ़ लेने से ही स्वमत-परमत के सर्वसिद्धान्तों का ज्ञान हो जाएगा, अन्य हजारों ग्रन्थों को पढ़ने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। यथा-

“श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः।

विज्ञायते ययैव स्वसमयपरसमयसद्भावः॥”

‘अष्टसहस्री’ पर दो संस्कृत व्याख्याएँ भी उपलब्ध होती हैं -

1. विषमपदतात्पर्य टीका (लघुसमन्तभद्र, तेरहवीं सदी), 2. अष्टसहस्री तात्पर्य विवरण (उपाध्याय यशोविजय, सत्रहवीं सदी)।

2. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक⁵ - यह आचार्य उमास्वामी कृत 'तत्त्वार्थसूत्र' की भाष्यरूप टीका है। यह भी अत्यन्त गूढ़-गंभीर एवं विस्तृत होने के कारण अपनी उपमा आप ही है।

इस ग्रन्थ को 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार' और 'श्लोकवार्तिक-भाष्य' के नाम से भी जाना जाता है।

4. प्रकाशक- (क) जैनविद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी (ख) त्रिलोक शोध संस्थान, जम्बूद्वीप, हस्तिनापुर, उत्तर प्रदेश, 2008 (ग) गांधी नाथारंग जैन ग्रन्थमाला, बम्बई-1915
5. प्रकाशक- (क) गाँधी नाथारंग जैन ग्रन्थमाला, माण्डवी, बम्बई, 1918 (ख) पन्नालाल पाटनी, 29-ए/3 (तीसरी मंजिल) रामकृष्ण समाधि रोड, कोलकाता-54, सन् 2011

3. युक्त्यनुशासनालंकार⁶ - यह आचार्य समन्तभद्र कृत 'युक्त्यनुशासन' की सरल एवं विशद टीका है। मध्यम परिमाण की इस टीका में भारतीय दर्शन के विविध वादों की अद्भुत समीक्षा की गई है।

आचार्य विद्यानन्द स्वामी द्वारा विरचित मौलिक ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय निम्नानुसार है -

1. आप्तपरीक्षा⁷ - इस ग्रन्थ में 124 कारिकाओं में आप्त की परीक्षा की गई है। इसकी संस्कृत-टीका भी आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने स्वयं ही लिखी है। इस ग्रन्थ का विस्तृत परिचय-परिशीलन आगे लिखा ही जा रहा है।

2. प्रमाणपरीक्षा⁸ - इस ग्रन्थ में प्रमाण के स्वरूप, संख्या, विषय एवं फल के सम्बन्ध में विचार-विमर्श किया गया है।

3. पत्रपरीक्षा⁹ - यह एक लघुकाय मौलिक ग्रन्थ है जिसमें अन्य दर्शनों द्वारा अभिमत 'पत्र' के लक्षणों की समीक्षा करके जैनदर्शन द्वारा अभिमत 'पत्र' के लक्षण को स्थापित किया गया है।

वाद-विषयक इस ग्रन्थ में इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि वाद में अनुमान के दो ही अवयव मान्य हैं - प्रतिज्ञा और हेतु।

4. सत्यशासनपरीक्षा¹⁰ - यह भी जैनन्याय का एक अद्भुत

6. प्रकाशक- माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, वि.सं.-1977

7. (क) सनातन जैनग्रन्थमाला, 1913

(ख) जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय, बम्बई, 1930

(ग) संपादक- डॉ. दरबारीलाल कोठिया, प्रकाशक- वीर सेवा मंदिर, नई दिल्ली, सन् 1949

8. प्रकाशक- (क) डॉ. दरबारीलाल कोठिया, प्रकाशक- वीर सेवा मंदिर, नई दिल्ली
(ख) सनातन जैन ग्रंथमाला, वीर सेवा मंदिर, 1914

9. प्रकाशक- सनातन जैन ग्रंथमाला, वीर सेवा मंदिर, 1913

10. प्रकाशक- भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, सन् 1964, संपादक डॉ. गोकुलचंद जैन

ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में पं. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ने लिखा है कि- "सत्यशासनपरीक्षा एक ऐसा तेजोमय रत्न है जिससे जैन न्याय का आकाश दमदमा उठेगा। यद्यपि इसमें आए हुए पदार्थ फुटकर रूप से उनके अष्टसहस्री आदि ग्रन्थों में खोजे जा सकते हैं; पर इतना सुन्दर और व्यवस्थित तथा अनेक नये प्रमेयों का सुरुचिपूर्ण संकलन जिसे स्वयं विद्यानन्द ने ही किया जो, अन्यत्र मिलना असम्भव है।"

- कोठियाजी द्वारा सम्पादित आप्तपरीक्षा, प्रस्तावना, पृष्ठ-72

इस ग्रन्थ में निम्नलिखित शीर्षकों से परमतखण्डन एवं स्वमतमण्डन किया गया है-

1. पुरुषाद्वैत-शासन-परीक्षा
2. शब्दाद्वैत-शासन-परीक्षा
3. विज्ञानाद्वैत-शासन-परीक्षा
4. चित्राद्वैत-शासन-परीक्षा
5. चार्वाक-शासन-परीक्षा
6. बौद्ध-शासन-परीक्षा
7. सांख्य-शासन-परीक्षा
8. नैयायिक-शासन-परीक्षा
9. वैशेषिक-शासन-परीक्षा
10. भाट्ट-शासन-परीक्षा
11. प्राभाकर-शासन-परीक्षा
12. तत्त्वोपप्लव-शासन-परीक्षा
13. अनेकान्त-शासन-परीक्षा।

5. श्रीपुरपाश्वर्चनाथस्तोत्र¹¹ - इस कृति में 23वें तीर्थंकर

11. प्रकाशक - वीर सेवा मंदिर, सरसावा, उ.प्र., सन् 1949, सम्पादक - डॉ. दरबारी लाल कोठिया

पार्श्वनाथ की स्तुति के रूप में 30 पद्य लिखे हैं, जिनमें तार्किक शैली से सर्वज्ञसिद्धि, अनेकान्त-स्याद्वाद-विवेचन एवं मोक्षमार्ग-निरूपण भी उपलब्ध होता है।

उक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त एक 'विद्यानन्दमहोदय' नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' आदि ग्रन्थों में मिलता है, परन्तु यह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं होता। प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ एक अत्यंत विशालकाय रहा होगा और उसका कोई संक्षिप्त संस्करण भी तैयार हुआ होगा, यही कारण है कि इस ग्रन्थ का दूसरा नाम 'संक्षिप्त-महोदय' भी माना जाता है।

इसप्रकार यहाँ आचार्य विद्यानन्दस्वामी कृत ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय लिखा गया, परन्तु इन ग्रन्थों का माहात्म्य इनके अध्ययन से ही भलीभाँति जाना जा सकता है, उसके बिना नहीं, अतः हम सबको इनके अध्ययन में अवश्य प्रवृत्ति करनी चाहिए।

अब यहाँ 'आप्तपरीक्षा' नामक ग्रन्थ का विशेष अध्ययन करने का प्रयत्न करते हैं।

ध्यातव्य है कि आप्तपरीक्षा यद्यपि गूढ़-गंभीर ग्रन्थ है, परन्तु यहाँ उसे सर्वसाधारण को समझने योग्य भाषा-शैली में स्थूल रूप से ही समझने का प्रयास किया जाएगा। जो लोग उसकी सूक्ष्मता का अनुभव करना चाहते हैं, उन्हें उसे स्वोपज्ञ संस्कृत टीका के साथ मूल में ही पढ़ना चाहिए। उसका सुन्दर संपादन और हिन्दी अनुवाद भी डॉ. दरबारीलाल कोठिया जी ने किया है। यहाँ तो जो लोग उसे नहीं पढ़ते हैं या नहीं समझ पाते हैं, उनके लिए ही बालबोध शैली में कुछ लिखने का प्रयास किया जा रहा है।

2. आप्तपरीक्षा की विषयवस्तु

'आप्तपरीक्षा' में कुल 124 कारिकाएँ हैं जो निम्नलिखितानुसार

10 प्रकरणों में विभाजित की जा सकती हैं। यद्यपि यह विभाजन सर्वथा 'इदमित्थमेव' नहीं माना जा सकता, तथापि सुगमता के लिए ऐसा किया है। यथा-

1. मंगलाचरण (कारिका 1 से 5 तक)
2. ईश्वर-परीक्षा (कारिका 6 से 77 तक)
3. कपिल-परीक्षा (कारिका 78 से 83 तक)
4. सुगत-परीक्षा (कारिका 84 से 86 तक)
5. परमपुरुष-परीक्षा (कारिका 86 की टीका)
6. अर्हत्सर्वज्ञसिद्धि (कारिका 87 से 110 तक)
7. अर्हत्कर्मभूतभेतृत्वसिद्धि (कारिका 111 से 115 तक)
8. अर्हत्मोक्षमार्गनेतृत्वसिद्धि (कारिका 116 से 119 तक)
9. अर्हत्तन्त्रत्वसिद्धि (कारिका 120 से 121 तक)
10. उपसंहार (कारिका 122 से 124 तक)

सभी प्रकरणों की विषयवस्तु संक्षेप में इस प्रकार है-

(i) **मंगलाचरण** - इस प्रकरण में पाँच कारिकाएँ हैं जिनमें सर्वप्रथम वीतराग-सर्वज्ञ-हितोपदेशी जिनचन्द्र को नमस्कार करके मंगलाचरण किया गया है और फिर यह समझाया गया है कि मंगलाचरण क्यों एवं कैसे किया जाता है। मंगलाचरण का प्रयोजन बताते हुए कहा गया है कि उससे 'श्रेयोमार्ग की संसिद्धि' होती है तथा मंगलाचरण कैसे करते हैं- इसके उदाहरणस्वरूप 'तत्त्वार्थसूत्र' के इस मंगलाचरण को ही यथावत् प्रस्तुत कर दिया है -

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूताम्।

ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वन्दे तद्गुणलब्धये॥

वास्तव में एक यही श्लोक समूची 'आप्तपरीक्षा' का मूलाधार है।

(ii) ईश्वर-परीक्षा - यह इस ग्रन्थ का सबसे बड़ा प्रकरण है। इसमें 72 कारिकाएँ हैं, जिनमें विस्तारपूर्वक नैयायिक-वैशेषिक द्वारा अभिमत ईश्वर या महेश्वर के आप्तत्व का निराकरण किया गया है। इसमें ईश्वर के सदाशिवत्व, सृष्टिकर्तृत्व, ज्ञानभिन्नत्व आदि विषयों को अनेक प्रकार से युक्तिविरुद्ध सिद्ध किया गया है। इस प्रकरण को भलीभाँति समझना आवश्यक है, अन्यथा आगे के प्रकरण भी भलीभाँति समझ में नहीं आते। यह प्रकरण इस ग्रन्थ का सबसे प्रमुख भाग है। इसके विषय में सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री ने लिखा है- “यद्यपि आप्त-परीक्षा में ईश्वर, कपिल, बुद्ध, ब्रह्म आदि सभी प्रमुख आप्तों की परीक्षा की गई है, किन्तु उसका प्रमुख और आद्य भाग तो ईश्वर-परीक्षा है। इसमें ईश्वर के सृष्टिकर्तृत्व की सभी दृष्टिकोणों से विवेचना करके उसकी ध्वजियाँ उड़ा दी गई हैं। कुल 124 कारिकाओं में से 77 कारिका इस परीक्षा ने घेर रखी हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वर के सृष्टिकर्तृत्व के निराकरण के लिए ही यह परीक्षाग्रन्थ रचा गया है।” -कोठियाजी द्वारा संपादित आप्तपरीक्षा, प्राक्कथन, पृष्ठ 12 ।

(iii) कपिल-परीक्षा - इस प्रकरण में 11 कारिकाओं में सांख्याभिमत कपिल के आप्तत्व का निराकरण किया गया है।

(iv) सुगत-परीक्षा - इस प्रकरण में 3 कारिकाओं में बौद्धाभिमत सुगत के आप्तत्व का निराकरण किया गया है।

(v) परमपुरुष-परीक्षा - इस प्रकरण में वेदान्ताभिमत परमपुरुष अथवा ब्रह्म के आप्तत्व का निराकरण किया गया है। इस प्रकरण में मूल कारिका तो एक भी नहीं है, पर सुगत-परीक्षा की 86वीं कारिका की स्वोपज्ञ-टीका में ही इस विषय का सुन्दर समावेश कर लिया गया है, क्योंकि वहाँ विज्ञानाद्वैतवादी बौद्धों का निराकरण किया गया था और वेदान्तमत उसी से मिलता-जुलता है।

(vi) अर्हत्-परीक्षा - ईश्वर, कपिल, सुगत एवं परमपुरुष के आप्तत्व का खण्डन करने के बाद अब इस प्रकरण में अर्हत् के आप्तत्व का मण्डन किया गया है। यह प्रकरण चार भागों में विभाजित है -

(क) अर्हत्सर्वज्ञसिद्धि - इसमें 24 कारिकाओं में अर्हन्त के सर्वज्ञत्व की सिद्धि की गई है।

(ख) अर्हत्कर्मभूभृत्भेतृत्वसिद्धि - इसमें 5 कारिकाओं में अर्हन्त के कर्मभूभृत्भेतृत्व/कर्मरहितत्व/वीतरागत्व गुण की सिद्धि की गई है।

(ग) अर्हन्मोक्षमार्गनेतृत्वसिद्धि - इसमें 4 कारिकाओं में अर्हन्त के मोक्षमार्गनेतृत्व/हितोपदेशित्व गुण की सिद्धि की गई है।

(घ) अर्हत्वन्द्यत्वसिद्धि - इसमें 2 कारिकाओं में अर्हन्त के वन्द्यत्व/वन्दनीयत्व/पूज्यत्व के हेतु को उपस्थित किया गया है।

(vii) उपसंहार - इसमें 3 कारिकाओं द्वारा ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए कहा गया है कि यह ग्रन्थ आचार्य उमास्वामी कृत ‘तत्त्वार्थसूत्र’ के मंगलाचरण-श्लोक के आधार पर सर्व विवादों की निवृत्ति के लिए लिखा गया है।

3. ‘आप्तपरीक्षा’ पर हुए प्रमुख कार्य -

आचार्य विद्यानन्दस्वामी विरचित ‘आप्त-परीक्षा’ पर अद्यावधि निम्नलिखित दो ही प्रमुख कार्य हुए हैं-

(i) आप्तपरीक्षालंकृति - यह स्वोपज्ञ टीका के नाम से प्रसिद्ध है, क्योंकि इसे आचार्य विद्यानन्दस्वामी ने स्वयं लिखा है। यह प्रौढ़ संस्कृत भाषा में है।

(ii) संपादनानुवाद - डॉ. दरबारीलाल कोठिया। इसमें मूल ग्रन्थ और टीका के हिन्दी अनुवाद के साथ-साथ शोधपूर्ण विस्तृत प्रस्तावना भी है। प्रकाशक - वीर सेवा मन्दिर, सरसावा।

इनके अतिरिक्त तीसरा कोई प्रमुख कार्य मेरे देखने में नहीं आया है, इसीलिए मैंने सामान्यजनों के लाभार्थ यह सरल-सुबोध परिशीलन लिखने का प्रयास किया है। यद्यपि उत्कृष्ट कार्य उक्त दोनों ही हैं और ग्रन्थ को ठीक से समझने के लिए उन्हीं का अध्ययन उपादेय है, परन्तु आज समय बहुत बदल गया है, लोग उन्हें नहीं पढ़ रहे हैं; अतः उनमें प्रवेश हेतु ही यह संक्षिप्त परिशीलन लिखा जा रहा है। यदि कोई इसे पढ़कर उनमें प्रवेश करेगा तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगा।

- वीरसागर जैन

आप्त का आश्रय क्यों आवश्यक है?

सर्वः प्रेप्सति सत्सुखाप्तिमचिरात् सा सर्वकर्मक्षयात्
सद्वृत्तात् स च तच्च बोधनियतं सोऽप्यागमात् स श्रुतेः।
सा चाप्तात् स च सर्वदोषरहितो रागादयस्तेऽप्यतः
तं युक्त्या सुविचार्य सर्वसुखद सन्तः श्रयन्तु श्रियो॥९॥

अर्थ - सर्व जीव भला सुख की प्राप्ति कौं शीघ्र वांछें हैं। सो यह वांछा प्रत्यक्ष भासै है। बहुरि सुख की प्राप्ति सर्व कर्म के नाश तैं हो है, जातैं सुख का रोकनहारा कोई कर्म है ताका नाश भए बिना सुख कैसे होई? बहुरि सो कर्म का क्षय सम्यक्चारित्र तैं हो है, जातैं बुरा आचरण तैं निपजा कर्म सो भला आचरण बिना कैसे नष्ट होई? बहुरि सो सम्यक्चारित्र ज्ञान तैं निश्चित है, जातैं ज्ञान बिना बुरा भला आचरण का निश्चय कैसे होई? बहुरि सो ज्ञान आगम तैं हो है, जातैं आगम बिना बुरा भला का ज्ञान होता नाहीं। बहुरि आगम है सो श्रुति जो अर्थप्रकाशक मूल उपदेश तिस बिना होता नाहीं, जातैं आगम रचना कोई अनुसार तैं हो है। बहुरि श्रुति है सो आप्त जो यथार्थ उपदेशदाता तिसतैं हो है, जातैं उपदेशदाता बिना उपदेश कैसे होई। बहुरि सो आप्त सर्व दोष रहित है, जातैं दोष सहित आप्त होता नाहीं। बहुरि दोष रागादि हैं, जातैं राग, द्वेष, काम, क्रोध, क्षुधा, निद्रा आदि होतैं यथार्थ उपदेश देइ सकैं नाहीं। तातैं एई आप्तपना के घातक दोष हैं। ऐसैं अनुक्रम कह्या। यातैं सत्पुरुष हैं तो युक्ति करि भलैं विचारि सर्व सुख का दाता जो आप्त ताकौं सुखरूप लक्ष्मी कै अर्थ आश्रय करौ।

- आचार्य गुणभद्र, आत्मानुशासन, पं. टोडरमल कृत टीका

आचार्यविद्यानन्दस्वामि-विरचिता

आप्तपरीक्षा

मंगलाचरण

सर्वप्रथम मंगलाचरण करते हैं-

प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थबोधदीधितिमालिने।

नमः श्रीजिनचन्द्राय मोहध्वान्तप्रभेदिने॥१॥

अर्थ - जो सर्व तत्त्वार्थों को जाननेवाली ज्ञानकिरणों के स्वामी हैं और मोह-अन्धकार को विनष्ट करने वाले हैं उन 'श्रीजिनचन्द्र' को मेरा नमस्कार हो।

विशेषार्थ - यहाँ 'श्रीजिनचन्द्र' के दोनों अर्थ किये जा सकते हैं- 1. सामान्यतः सभी जिनेन्द्र और 2. अष्टम तीर्थंकर श्री चंद्रप्रभ जिनेन्द्र।

इस पूरे ग्रन्थ में आप्तत्व के मूलाधारभूत गुण तीन बताये जायेंगे-

1. वीतरागत्व (कर्मभूभृत्भेतृत्व) 2. सर्वज्ञत्व (विश्वतत्त्वज्ञातृत्व) और 3. मोक्षमार्गोपदेशकत्व। यहाँ मंगलाचरण के श्लोक में भी आचार्यदेव ने कुशलतापूर्वक उन तीनों गुणों का समावेश कर दिया है। यथा -

प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थ	=	सर्वज्ञत्व
मोहध्वान्तप्रभेदी	=	वीतरागत्व
श्रीजिनचन्द्र	=	मोक्षमार्गोपदेशकत्व

(समवशरणरूपी लक्ष्मी से सहित)

अब कहते हैं कि मंगलाचरण क्यों करते हैं-

श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः।

इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ मुनिपुङ्गवाः॥२॥

अर्थ - मुनिश्रेष्ठों ने कहा है कि परमेष्ठी के प्रसाद से श्रेयोमार्ग की संसिद्धि होती है, इसलिए शास्त्र के प्रारंभ में उनका गुणस्तवन करना चाहिए।

विशेषार्थ - इस कारिका की स्वोपज्ञ टीका बहुत महत्वपूर्ण है। उसे अवश्य ही मूलरूप से पढ़ना चाहिए। उसमें अनेक विषय कुशलतापूर्वक समझाये गये हैं। यथा -

1. श्रेयोमार्ग का अर्थ है - श्रेयः का मार्ग। श्रेयः, श्रेयस् या निःश्रेयस दो प्रकार का है - परनिःश्रेयस और अपरनिःश्रेयस। सर्व कर्मों का क्षय होकर सिद्ध पद प्राप्त होना परनिःश्रेयस है और चार घाति कर्मों का क्षय होकर अनंत चतुष्टयरूप अरिहंत अवस्था की प्राप्ति होना परनिःश्रेयस है।

2. आत्मा के सर्व कर्मों का क्षय होना असिद्ध नहीं है, क्योंकि उसे सिद्ध करने वाला प्रमाण उपलब्ध है।

3. आत्मा के कर्मबंध भी असिद्ध नहीं हैं, क्योंकि उसे भी सिद्ध करने वाला प्रमाण उपलब्ध है।

4. बंध और मोक्ष - दोनों के सिद्ध हो जाने पर उन दोनों के हेतु - मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद आदि और गुप्ति, समिति, धर्मादि भी सिद्ध हो जाते हैं।

5. श्रेयोमार्ग की संसिद्धि। संसिद्धि भी तीन प्रकार की होती है - असत् की उत्पत्ति, अभिलषित की प्राप्ति और सम्यक् ज्ञप्ति। यहाँ इनमें से पहली वाली को ग्रहण नहीं करना चाहिए, दूसरी या तीसरी को ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि यहाँ कारक-प्रकरण नहीं चल रहा, ज्ञापक-प्रकरण चल रहा है।

6. परमेष्ठी के प्रसाद का अर्थ है कि परमेष्ठी तो वीतराग हैं, उनमें प्रसन्नता रूप गुण नहीं पाया जाता, किन्तु उनके शिष्यों का

प्रसन्न मन होना ही परमेष्ठी का प्रसाद है। जिसप्रकार कोई व्यक्ति कहता है कि मुझे इस रसायन (औषध) के प्रसाद से आरोग्य की प्राप्ति हुई। वहाँ रसायन में प्रसाद गुण नहीं है, परन्तु सेवन करने वाले ने प्रसन्न मन से उस रसायन का सेवन करके आरोग्य की प्राप्ति की, अतः वह कहता है कि मुझे रसायन (औषध) के प्रसाद से आरोग्य की प्राप्ति हुई। इसी प्रकार प्रसन्न मन से परमेष्ठी की उपासना करके श्रेयोमार्ग को प्राप्त करने वाले शिष्य मानते/कहते हैं कि परमेष्ठी के प्रसाद से श्रेयोमार्ग का ज्ञान हुआ।

7. परमेष्ठी का गुण-स्तवन मंगलरूप है और उसे आदि, मध्य, अंत में निर्विघ्न सिद्धि के लिए करना चाहिए -

आदौ मध्येऽवसाने च मंगलं भाषितं बुधैः।

इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ मुनिपुङ्गवैः॥

8. 'मंगल' शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से है - 1. मंगलयतीति मंगलं, 2. मंगं लातीति मंगलं, अतः 'मंगल' का अर्थ इन दोनों को जोड़कर इस प्रकार भी किया जाता है कि जो पाप रूपी मल को गलाये और सच्चा सुख प्रदान करे, उसे मंगल कहते हैं।

9. परमेष्ठी-गुण-स्तवन का मुख्य प्रयोजन तो श्रेयोमार्ग की संसिद्धि ही है, यद्यपि वह शिष्टाचार पालन, नास्तिकता-परिहार और निर्विघ्न शास्त्रसमाप्ति के लिए भी किया जाता है।

10. परमेष्ठी-गुण-स्तवन सभी शास्त्रकार अवश्य ही करते हैं, भले ही वह मानसिक-वाचिक-कायिक रूप से अनिबद्ध रूप में किया हो और निबद्ध रूप में ग्रन्थ में हमें न दिखाई देता हो, क्योंकि शास्त्रकार साधु होते हैं और वे कृतोपकार का विस्मरण कभी नहीं करते हैं - 'न हि कृतमुपकार साधवो विस्मरन्ति।'।

अब कहते हैं कि परमेष्ठी का गुणस्तवन कैसे करते हैं -

**मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये॥३॥**

अर्थ - जो मोक्षमार्ग के नेता हैं, कर्मपर्वतों के भेत्ता (भेदन-कर्ता, विनाशक) हैं और सर्व तत्त्वों के ज्ञाता हैं, उन (हितोपदेशी, वीतराग एवं सर्वज्ञ देव) को मैं उनके गुणों की प्राप्ति के लिए प्रणाम करता हूँ।

विशेषार्थ - यह आचार्य उमास्वामी कृत 'तत्त्वार्थसूत्र' का मंगलाचरण-श्लोक है जो आगे चलकर अनेक ग्रन्थों का उपजीव्य बना। 'आप्तपरीक्षा' का भी यही मूलाधार है। पूरी आप्तपरीक्षा के केन्द्र में सर्वत्र यही श्लोक व्याप्त रहता है, इसी के आधार पर अन्याभिमत आप्तों का खण्डन और जैनाभिमत आप्त का मण्डन किया गया है, अतः यहाँ इसे यथावत् इस ग्रन्थ का अंग बना लिया गया है।

अब आगे कहते हैं कि आप्त में जो वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशक - ये तीन गुण विशेष बताये गये हैं, उनका क्या प्रयोजन है-

**इत्यसाधारणं प्रोक्तं विशेषणमशेषतः।
परसङ्कल्पिताप्तानां व्यवच्छेदप्रसिद्धये॥४॥**

अर्थ - आप्त में जो उक्त तीन असाधारण गुण कहे गये हैं, वे परसंकल्पित (अन्याभिमत) आप्तों का पूर्णतः निराकरण करने के लिए कहे गये हैं।

अब कहते हैं कि अन्याभिमत आप्तों का खण्डन करना क्यों आवश्यक है -

**अन्ययोगव्यवच्छेदान्निश्चिते हि महात्मनि।
तस्योपदेशसामर्थ्यादनुष्ठानं प्रतिष्ठितम्॥५॥**

अर्थ - अन्याभिमत आप्त के आप्तत्व का खण्डन और अर्हत्

महात्मा के आप्तत्व का मण्डन करने पर ही अर्हन्त के उपदेश से मोक्षमार्गानुष्ठान की सिद्धि संभव है, अतः अनिवार्यतः उक्त विशेषण कहे गये हैं।

विशेषार्थ - लोक में सामान्यतः सभी को आप्त और मोक्षमार्गोपदेष्टा कहा जाता है। ऐसी स्थिति में यदि महेश्वरादि का व्यवच्छेद (निराकरण) करके अर्हन्त परमेष्ठी का स्थापन न किया जाए तो उनके उपदेश में कौन सम्यक् है और कौन मिथ्या - इसका निर्णय नहीं हो सकेगा, या तो सभी सम्यक् कहे जायेंगे या सभी मिथ्या, अतः अन्याभिमत आप्तों का व्यवच्छेद करके ही अर्हन्त परमेष्ठी के आप्तत्व को प्रतिष्ठित करना संभव है।

इस प्रकार इस मंगलाचरण प्रकरण में 5 कारिकाएँ आई हैं। पहली कारिका में मंगलाचरण किया है, दूसरी कारिका में कहा है कि मंगलाचरण क्यों करते हैं, तीसरी कारिका में कहा है कि मंगलाचरण कैसे करते हैं, चौथी कारिका में कहा है कि मंगलाचरण ऐसे ही क्यों करते हैं और पाँचवीं कारिका में कहा है कि इसी प्रकार से मंगलाचरण किये बिना आप्तत्व की परीक्षा/स्थापना क्यों नहीं हो सकती।

इस प्रकार ग्रन्थ की बड़ी ही सार्थक उत्थानिका प्रस्तुत की गई। अब क्रमशः एक-एक आप्त का परीक्षण किया जायेगा।

**“जीयान्निरस्त-निश्शेष-सर्वथैकान्तशासनम्।
सदा श्रीवर्द्धमानस्य विद्यानन्दस्य शासनम्॥”**

- आप्तपरीक्षा-प्रशस्ति

सभी सर्वथा एकान्त शास्त्रों को पूरी तरह नष्ट करने वाला श्री वर्द्धमान का विद्यानन्द शासन सदा जयवन्त रहो।

ईश्वर-परीक्षा

अब ईश्वर-परीक्षा प्रारंभ करते हैं। ईश्वर-परीक्षा का दूसरा नाम महेश्वर-परीक्षा भी है। इस प्रकरण में नैयायिक और वैशेषिक - इन दोनों दर्शनों द्वारा मान्य ईश्वर या महेश्वर के आप्तत्व की परीक्षा की जायेगी। परीक्षा की कसौटी सर्वत्र यही रहेगी कि जो मोक्षमार्ग का नेता हो, कर्म-पर्वतों का भेत्ता हो और विश्वतत्त्वों का ज्ञाता हो, वही आप्त हो सकता है, इसके विपरीत नहीं।

ईश्वर-परीक्षा नामक इस प्रकरण में ईश्वर के आप्तत्व का निराकरण इसी आधार पर किया जायेगा कि उसमें उक्त तीन गुण सिद्ध नहीं होते, अतः उसे आप्त नहीं माना जा सकता।

यहाँ सर्वप्रथम नैयायिक-वैशेषिक (यौग) कहते हैं कि हमारा ईश्वर या महेश्वर तो सदाशिव है, अनादि से ही मुक्त है, कर्म-रहित है, अनुपाय-सिद्ध है, अतः वह कर्मभूभृत्भेत्ता नहीं है। यद्यपि वह मोक्षमार्ग का नेता और विश्वतत्त्व का ज्ञाता अवश्य है, पर उसे कर्मपर्वतों का भेत्ता नहीं माना जा सकता।

तत्रासिद्धं मुनीन्द्रस्य भेतृत्वं कर्मभूभृताम्।

ये वदन्ति विपर्यासात्तान्प्रत्येवं प्रचक्ष्महे॥6॥

अर्थ- अब जो (यौग अर्थात् नैयायिक-वैशेषिक) यह विपरीत बात कहते हैं कि आप्त में कर्मभूभृत्भेतृत्व गुण हो ही नहीं सकता, उन्हें विस्तार से समझाते हैं।

प्रसिद्धः सर्वशास्त्रज्ञस्तेषां तावत्प्रमाणतः।

सदा विध्वस्तनिःशेषबाधकात्स्वसुखादिवत्॥7॥

यौग (नैयायिक वैशेषिक) - आप्त सर्वतत्त्वज्ञ तो है, क्योंकि इसमें समस्त बाधक प्रमाणों का अभाव है, स्वसुखादि की तरह; किन्तु वह कर्मभूभृत्भेत्ता नहीं है, क्योंकि वह सदाशिव है, सदा मुक्त है।

ज्ञाता यो विश्वतत्त्वानां स भेत्ता कर्मभूभृताम्।

भवत्येवान्यथा तस्य विश्वतत्त्वज्ञता कुतः॥8॥

जैन- जो विश्वतत्त्वों का ज्ञाता होता है वह कर्मपर्वतों का भेत्ता भी अवश्य होता ही है। अन्यथा वह विश्वतत्त्वों का ज्ञाता भी कैसे हो सकता है?

नास्पृष्टः कर्मभिः शश्वद्विश्वदृश्वस्ति कश्चन।

तस्यानुपायसिद्धस्य सर्वथानुपपत्तितः॥9॥

अर्थ- अनादिकाल से ही कर्मों से अस्पृष्ट कोई अनुपायसिद्ध सर्वज्ञ होता है- यह बात सर्वथा अयुक्त/असिद्ध है।

प्रणीतिर्मोक्षमार्गस्य न विनाऽनादिसिद्धितः।

सर्वज्ञादिति तत्सिद्धिर्न परीक्षासहा स हि॥10॥

प्रणेता मोक्षमार्गस्य नाशरीरोऽन्यमुक्तवत्।

सशरीरस्तु नाकर्मा सम्भवत्यज्ञजन्तुवत्॥11॥

यौग- मोक्षमार्ग का प्रणयन अनादिसिद्ध सर्वज्ञ के बिना नहीं बन सकता, अतः उसकी (अनादिसिद्ध ईश्वर की) सिद्धि हो जाती है।

जैन- नहीं, यह बात परीक्षासह नहीं है। बताओ- वह अनादिसिद्ध सर्वज्ञ अशरीर है या सशरीर? यदि अशरीर है तो भी वह अन्य मुक्त जीवों की तरह मोक्षमार्ग का प्रणेता नहीं हो सकता। और यदि सशरीर है तो भी वह मोक्षमार्ग का प्रणेता नहीं हो सकता, क्योंकि वह अन्य संसारी प्राणियों की तरह सकर्मा सिद्ध होता है।

न चेच्छाशक्तिरीशस्य कर्माभावेऽपि युज्यते।

तदिच्छा वानभिव्यक्ता क्रियाहेतुः कुतोऽज्ञवत्॥12॥

यौग- ईश्वर अपनी इच्छाशक्ति से मोक्षमार्ग-प्रणयन एवं जगत्कर्तृत्व आदि कार्यों को करता है।

जैन- नहीं, कर्म के अभाव में ईश्वर के इच्छाशक्ति भी नहीं मानी जा सकती, क्योंकि इच्छा कर्मोदय से होती है।

यौग- नहीं, उसकी इच्छाशक्ति तो अनभिव्यक्त है, व्यक्त नहीं होती है।

जैन- अनभिव्यक्त इच्छा अज्ञ प्राणी की तरह क्रिया-हेतु (कार्योत्पत्ति में कारण) नहीं हो सकती।

ज्ञानशक्त्यैव निःशेषकार्योत्पत्तौ प्रभुः किल।

सदेश्वर इति ख्यानेऽनुमानमनिदर्शनम्॥13॥

यौग- ईश्वर तो वास्तव में ज्ञानशक्ति से ही सर्व कार्यों को सदा उत्पन्न करने में समर्थ है।

जैन- यह भी सत्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह अनुमान उदाहरण से रहित है, अर्थात् ऐसा कहीं नहीं देखा जाता।

समीहामन्तरेणापि यथा वक्ति जिनेश्वरः।

तथेश्वरोऽपि कार्याणि कुर्यादित्यप्यपेशलम्॥14॥

सति धर्मविशेषे हि तीर्थकृत्वसमाह्वये।

ब्रूयाज्जिनश्वरो मार्गं न ज्ञानादेव केवलात्॥15॥

सिद्धस्यापास्तनिःशेषकर्मणो वागसम्भवात्।

विना तीर्थकरत्वेन नाम्ना नार्थोपदेशता॥16॥

यौग- जिस प्रकार आपके जिनेश्वर इच्छा के बिना ही उपदेश देते हैं, उसी प्रकार ईश्वर को भी इच्छा के बिना ही कार्यों को करने वाला मान लेना चाहिए।

जैन- यह भी अयुक्त है, क्योंकि जिनेश्वर तो 'तीर्थकर' नामक नामकर्म के उदय से ही उपदेश देते हैं, न कि केवल ज्ञान से ही। इसीलिए तो जिनके यह कर्म नहीं रहता, उन सर्वकर्म रहित सिद्ध के तत्त्वोपदेश का कार्य नहीं होता।

तथा धर्मविशेषोऽस्य योगश्च यदि शाश्वतः।

तदेश्वरस्य देहोऽस्तु योग्यन्तरवदुत्तमः॥17॥

यौग- हम भी ईश्वर के ऐसा ही कोई धर्मविशेष और योगविशेष स्वीकार करते हैं, जैसा कि आप जिनेश्वरों के तीर्थकर नामक नामकर्म स्वीकार करते हैं।

जैन- यदि ऐसा स्वीकार करोगे तो फिर आपको उसके उत्तम शरीर भी स्वीकार करना पड़ेगा, उसे अशरीरी नहीं मान सकोगे।

निग्रहानुग्रहौ देहं स्वं निर्मायान्यदेहिनाम्।

करोतीश्वर इत्येतन्न परीक्षाक्षमं वचः॥18॥

यौग- ईश्वर पहले अपने शरीर का निर्माण करता है, उसके बाद ही अन्य देहधारियों के निग्रहानुग्रहादि (दण्ड एवं उपकारादि) कार्यों को करता है।

जैन- नहीं, यह बात भी परीक्षा-क्षम नहीं है। क्योंकि-

देहान्तराद्विना तावत्स्वदेहं जनयेद्यदि।

तदा प्रकृतकार्येऽपि देहाधानमनर्थकम्॥19॥

देहान्तरात्स्वदेहस्य विधाने चानवस्थितिः।

तथा च प्रकृतं कार्यं कुर्यादीशो न जातुचित्॥20॥

अर्थ- यदि वह ईश्वर शरीरान्तर के बिना ही अपने स्व-शरीर को उत्पन्न कर लेता है तो अन्य सर्व प्राणियों के शरीरादि कार्यों को उत्पन्न करने के लिए भी शरीर धारण करना व्यर्थ है अर्थात् स्वयं शरीर धारण करने की भी कोई आवश्यकता नहीं रहती।

तथा यदि शरीरान्तर से स्वशरीर का निर्माण करता है तो अनवस्था नामक दोष उत्पन्न होता है। अतः सत्य यह है कि शरीरादि कार्यों को ईश्वर भी नहीं करता।

स्वयं देहाविधाने तु तेनैव व्यभिचारिता।

कार्यत्वादेः प्रयुक्तस्य हेतोरीश्वरसाधने॥21॥

अर्थ- तथा यदि ऐसा माना जाए कि ईश्वर स्व-शरीर का निर्माण नहीं करता परन्तु उसके शरीर होता अवश्य है तो ईश्वर का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाएगा, क्योंकि उसकी (ईश्वर की) सिद्धि में जो कार्यत्वात् - ऐसा हेतु आप प्रस्तुत करते हैं वह उस ईश्वर-देह के साथ ही व्यभिचरित (अनैकान्तिक) हो जाएगा।

यथानीशः स्वदेहस्य कर्त्ता देहान्तरान्तः।

पूर्वस्मादित्यनादित्वानानवस्था प्रसज्यते॥22॥

तथेशस्यापि पूर्वस्माद्देहाद्देहान्तरोद्भवात्।

नानवस्थेति यो ब्रूयात्तस्यानीशत्वमीशितुः॥23॥

अनीशः कर्मदेहेनानादिसन्तानवर्तिना।

यथैव हि सकर्मा नस्तद्वन्न कथमीश्वरः॥24॥

शंका (शंकरमतानुयायी)- जिस प्रकार अनीश (संसारी अज्ञानी प्राणी) अपने शरीर का कर्त्ता उसके पूर्ववर्ती अन्य शरीर से माना जाता है और वह पूर्ववर्ती शरीर भी उससे पूर्ववर्ती शरीर से माना जाता है और इस प्रकार अनादि शरीर-परम्परा मानने से अनवस्था दोष नहीं आता है। उसी प्रकार ईश्वर के पूर्व-पूर्व शरीरों से उत्तर-उत्तर शरीरों का उद्भव स्वीकार कर लेना चाहिए। इससे अनवस्था दोष नहीं आएगा।

समाधान (जैन)- ऐसा मानने से ईश को भी अनीशत्व प्राप्त होगा अर्थात् वह ईश्वर भी संसारी अज्ञानी प्राणी के समान सिद्ध होगा। जिस प्रकार संसारी अज्ञानी प्राणी अनादि शरीर-परम्परा के कारण सकर्मा (कर्म-सहित) माना जाता है, उसी प्रकार ईश्वर भी सकर्मा (कर्म-सहित) कैसे नहीं सिद्ध होगा अर्थात् अवश्य सिद्ध हो जाएगा।

तात्पर्य यह हुआ कि ऐसी स्थिति में तो ईश्वर और संसारी अज्ञानी प्राणी में कोई अन्तर नहीं रहेगा।

ततो नेशस्य देहोऽस्ति प्रोक्तदोषानुषङ्गतः।

नापि धर्मविशेषोऽस्य देहाभावे विरोधतः॥25॥

येनेच्छामन्तरेणापि तस्य कार्ये प्रवर्तनम्।

जिनेन्द्रवद् घटेतेति नोदाहरणसम्भवः॥26॥

अर्थ- अतः यही निष्कर्ष निकला कि ईश्वर के देह नहीं हैं, क्योंकि उसमें पूर्वोक्त अनेक दोष आते हैं। तथा उसके अन्य कोई धर्म विशेष भी नहीं है, क्योंकि उसका सद्भाव शरीर के सद्भाव में ही सिद्ध होता है, शरीर के अभाव में नहीं; अतः यह उदाहरण देना भी ठीक नहीं है कि वह जिनेश्वर की तरह इच्छा के बिना ही कार्यप्रवर्तन करता है।

इसप्रकार नैयायिकाभिमत ईश्वर के शरीरादि जगत्कार्यों के कर्तृत्व का निराकरण किया, किन्तु अब वैशेषिक मतानुयायी कहता है कि ईश्वर के शरीर, इच्छा या धर्मविशेष की बात छोड़िए, हम तो ईश्वर के ज्ञान को ही जगत्-कार्यों का हेतु स्वीकार करते हैं, उसमें क्या दोष है?

तब ग्रन्थकार आचार्य उनसे पूछते हुए उत्तर देते हैं कि बताओ, ईश्वर का वह ज्ञान नित्य है या अनित्य? व्यापक या अव्यापक? भिन्न है या अभिन्न? जो भी कहोगे, उसी में अनेक दोष उपस्थित होते हैं, अतः ईश्वर के ज्ञान को भी जगत्-कार्यों का हेतु (कारण) नहीं माना जा सकता। यथा-

(i) नित्य मानने में दोष-

ज्ञानमीशस्य नित्यं चेदशरीरस्य न क्रमः।

कार्याणामक्रमाद्धेतोः कार्यक्रमविरोधतः॥27॥

अर्थ- यदि उस अशरीरी ईश्वर का ज्ञान नित्य है तो जगत्कार्यों में क्रम नहीं होना चाहिए था, क्योंकि अक्रम हेतु से कार्यों के क्रम का विरोध सिद्ध होता है।

तथा एक दोष यह भी उपस्थित होता है कि नित्य ज्ञान प्रमाण या फल- दोनों में से कुछ भी सिद्ध नहीं होता है।

यथा-

तद्बोधस्य प्रमाणत्वे फलाभावः प्रसज्यते।

ततः फलावबोधस्येष्टौ च स्वस्य मतक्षतिः॥28॥

फलत्वे तस्य नित्यत्वं न स्यान्मानात्समुद्भवात्।

ततोऽनुद्भवने तस्य फलत्वं प्रतिहन्यते॥29॥

अर्थ- ईश्वर का नित्य ज्ञान यदि प्रमाण माना जाए तो फल का अभाव सिद्ध होता है। और यदि बाद में उत्पन्न होने वाले अनित्य ज्ञान को फल माना जाए तो आपके स्वसिद्धान्त की हानि होती है।

तथा यदि उस नित्य ज्ञान को फल माना जाए तो वह नित्य नहीं सिद्ध होता, क्योंकि वह तो प्रमाण से उत्पन्न होता है। यदि उसे उत्पन्न न मानें तो वह फल नहीं हो सकता।

(ii) अनित्य मानने में दोष-

अनित्यत्वे तु तज्ज्ञानस्यानेन व्यभिचारिता।

कार्यत्वादेर्महेशेनाकरणेऽस्य स्वबुद्धितः॥30॥

बुद्ध्यन्तरेण तद्बुद्धेः करणे चानवस्थितिः।

नानादिसन्ततिर्युक्ता कर्मसन्तानतो विना॥31॥

अर्थ- यदि ईश्वर के ज्ञान को अनित्य माना जाए तो कार्यत्व हेतु के साथ व्यभिचार आता है, क्योंकि उसे ईश्वर ने स्वबुद्धि से नहीं किया (बनाया) है।

यदि कहते हो कि उसे ईश्वर ने स्वबुद्धि से किया है तो फिर उस स्वबुद्धि को किसने किया -यह बताइए। इसमें तो अनवस्था दोष उत्पन्न होगा।

तथा यदि बुद्धि की अनादि-परम्परा स्वीकार करोगे तो वह कर्म-सन्तति के बिना नहीं मानी जा सकेगी।

तथा यदि ऐसा स्वीकार करोगे तो पुनः वही स्थिति उपस्थित होगी कि ईश्वर और अज्ञानी संसारी प्राणी में कोई अन्तर नहीं रहेगा, जैसा कि देह वाले प्रकरण में सिद्ध किया जा चुका है।

(iii) अव्यापक मानने में दोष-

अव्यापि च यदि ज्ञानमीश्वरस्य तदा कथम्।

सकृत्सर्वत्र कार्याणामुत्पत्तिर्घटते ततः॥32॥

यद्येकत्र स्थितं देशे ज्ञानं सर्वत्र कार्यकृत्।

तदा सर्वत्र कार्याणां सकृत्किन्न समुद्भवः॥33॥

कारणान्तरवैकल्यात्तथानुत्पत्तिरित्यपि।

कार्याणामीश्वरज्ञानाहेतुकत्वं प्रसाधयेत्॥34॥

सर्वत्र सर्वदा तस्य व्यतिरेकाप्रसिद्धितः।

अन्वयस्यापि सन्देहात्कार्यं तद्धेतुकं कथम्॥35॥

अर्थ- यदि ईश्वर का ज्ञान अव्यापक है तो उससे एक साथ सर्वत्र कार्यों की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

यदि वह एक जगह रहकर ही सब जगह कार्य कर लेता है तो सब जगह के कार्य एक साथ क्यों नहीं उत्पन्न हो जाते?

यदि कहो कि अन्य कारणों के अभाव से सब जगह के कार्य एक साथ उत्पन्न नहीं होते तो इससे यह सिद्ध होगा कि वे कार्य ईश्वर-ज्ञान-हेतुक नहीं हैं, क्योंकि सर्वत्र सर्वदा ईश्वर ज्ञान का व्यतिरेक अप्रसिद्ध है।

तथा व्यतिरेक के अप्रसिद्ध होने से अन्वय में भी सन्देह है। अतः जगत् के कार्य ईश्वर-ज्ञान-हेतुक सिद्ध कैसे हो सकते हैं? नहीं हो सकते।

(iv) व्यापक मानने में दोष-

एतेनैवेश्वरज्ञानं व्यापि नित्यमपाकृतम्।

तस्येशवत्सदा कार्य्यक्रमहेतुत्वहानितः॥36॥

अर्थ - उपर्युक्त विवेचन से ही ईश्वर के ज्ञान को व्यापक व नित्य मानने का भी निराकरण हुआ समझ लेना चाहिए, क्योंकि वह (व्यापक-नित्य ज्ञान) भी ईश्वर की ही तरह कार्यों का क्रम से हेतु (कारण/कर्ता) नहीं हो सकता।

अब पूछते हैं कि ईश्वर-ज्ञान अस्वसंवेदी है या स्वसंवेदी और दोनों ही पक्षों में दोष प्रदर्शित करते हैं। यथा-

(v) अस्वसंवेदी मानने में दोष -

अस्वसंविदितं ज्ञानमीश्वरस्य यदीष्यते।

तदा सर्वज्ञता न स्यात्स्वज्ञानस्याप्रवेदनात्॥37॥

ज्ञानान्तरेण तद्वित्तौ तस्याप्यन्येन वेदनम्।

वेदनेन भवेदेवमनवस्था महीयसी॥38॥

गत्वा सुदूरमप्येवं स्वसंविदितवेदने।

इष्यमाणे महेशस्य प्रथमं तादृगस्तु वः॥39॥

अर्थ - यदि ईश्वर-ज्ञान को अस्वसंवेदी माना जाए तो उसका ज्ञान अन्य से और उस अन्य का भी ज्ञान किसी अन्य से मानना पड़ेगा, जिससे अनवस्था नामक महादोष उत्पन्न होगा।

यदि कहीं दूर तक पहुँचकर किसी भी एक अन्य ज्ञान को स्वसंवेदी माना जाएगा तो उससे अच्छा यही था कि प्रथम ज्ञान को ही स्वसंवेदी मान लिया जाए।

तात्पर्य यही हुआ कि यदि ईश्वर-ज्ञान को अस्वसंवेदी माना जाएगा तो ईश्वर 'सर्वज्ञ' भी सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि वह भले ही अन्य सबको जानता हो, पर स्व को तो नहीं जानता।

(vi) स्वसंवेदी मानने में दोष-

तत्स्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं भिन्नं महेश्वरात्।

कथं तस्येति निर्देश्यमाकाशादिवदञ्जसा॥40॥

समवायेन तस्यापि तद्भिन्नस्य कुतो गतिः।

इहेदमिति विज्ञानादबाध्याद्व्यभिचारि तत्॥41॥

इह कुण्डे दधीत्यादिविज्ञानेन स विद्विषा।

साध्ये सम्बन्धमात्रे तु परेषां सिद्धसाधनम्॥42॥

अर्थ - यदि महेश्वर-ज्ञान को स्वसंवेदी - 'स्वार्थव्यवसायात्मक' कहा जाए तो भी उसे आपके (वैशेषिक के) मतानुसार महेश्वर से भिन्न मानना होगा और ऐसी स्थिति में वह उसका ही है- ऐसा निश्चयपूर्वक कैसे कहा जा सकेगा? वह तो आकाशादि की भाँति महेश्वर से भिन्न ही सिद्ध होगा।

यदि कहा जाए कि समवाय से उनमें स्व-स्वामी भाव बन जाएगा अर्थात् यह उसका ही है- ऐसा निश्चयपूर्वक कहा जा सकेगा क्योंकि उनमें आधार-आधेय सम्बन्ध है, तो हम पूछते हैं कि 'इस कुण्ड (घट) में दही है'- यहाँ भी तो आधार-आधेय सम्बन्ध है, किन्तु यह तो समवाय रूप नहीं है, इनमें तो स्व-स्वामी सम्बन्ध नहीं बनता है, यह तो मात्र संयोग सम्बन्ध है; अतः इसमें व्यभिचार दोष उपस्थित होता है।

यदि कहो कि सम्बन्धमात्र ही आपका साध्य है, अतः व्यभिचार दोष नहीं आएगा तो यह तो हमारे लिए सिद्ध-साधन ही हुआ।

इसप्रकार आपके मतानुसार महेश्वर-ज्ञान को स्वसंवेदी, महेश्वर से भिन्न मानना भी सत्य सिद्ध नहीं होता।

सत्यामयुतसिद्धौ चेनेदं साधु विशेषणम्।
शास्त्रीयायुतसिद्धत्वविरहात्समवायिनोः॥43॥

द्रव्यं स्वावयवाधारं गुणो द्रव्याश्रयो यतः।
लौकिक्ययुतसिद्धिस्तु भवेद्दुग्धाम्भसोरपि॥44॥

अर्थ- यदि कहो कि अयुतसिद्धि से व्यभिचार दोष नहीं आएगा और उनमें (महेश्वर और उसके ज्ञान में) स्व-स्वामी भाव बन जाएगा तो यह कथन भी समीचीन सिद्ध नहीं होता; क्योंकि- अवयव-अवयवी रूप अयुतसिद्धि दो प्रकार की है- शास्त्रीया (वैशेषिक शास्त्र-सम्मत) और लौकिकी (लोक-सम्मत)। शास्त्रीया अयुतसिद्धि तो यहाँ इसलिए नहीं बनती क्योंकि आपके शास्त्रानुसार द्रव्य (गुणी) तो अपने अवयवों में रहता है और गुण द्रव्य में रहता है, दोनों का आश्रय एक नहीं है, दोनों भिन्न-भिन्न आश्रय में रहते हैं। और लौकिकी अयुतसिद्धि तो दूध और पानी में भी मानी जाती है।

पृथगाश्रयवृत्तित्वं युतसिद्धिर्न चानयोः।
सास्तीशस्य विभुत्वेन परद्रव्याश्रितिच्युतेः॥45॥
ज्ञानस्यापीश्वरादन्यद्रव्यवृत्तित्वहानितः।
इति येऽपि समादध्युस्तांश्च पर्य्यनुयुंजमहे॥46॥
विभुद्रव्यविशेषाणामन्याश्रयविवेकतः।
युतसिद्धिः कथं नु स्यादेकद्रव्यगुणादिषु॥47॥
समवायः प्रसज्येताऽयुतसिद्धौ परस्परम्।
तेषां तद्वितयासत्त्वे स्याद्व्याघातो दुरुत्तरः॥48॥

अर्थ - “पृथक् आश्रय में रहना युतसिद्धि है और वह इन दोनों (ईश्वर और ईश्वरज्ञान) में नहीं है, क्योंकि ईश्वर विभु (सर्वत्र

व्यापक) है, वह दूसरे द्रव्य में नहीं रहता और उसका ज्ञान भी दूसरे द्रव्य में नहीं पाया जाता, अतः इनमें युतसिद्धि नहीं है, अयुतसिद्धि है”- ऐसा जो (वैशेषिक) समाधान प्रस्तुत करते हैं उनसे हम (जैन) पूछते हैं कि-

विभु द्रव्य अन्य द्रव्यों में नहीं रहते हैं, अतः उनके युतसिद्धि कैसे बनेगी? उनके तो अयुतसिद्धि ही बन सकेगी, इसलिए उनमें और एक द्रव्य में रहने वाले गुणों में अयुतसिद्धि प्राप्त होने पर परस्पर में समवाय सम्बन्ध प्राप्त होता है। यदि उनमें अयुतसिद्धि न मानें तो युतसिद्धि और अयुतसिद्धि दोनों का अभाव होने पर महान् व्याघात उपस्थित होगा।

युतप्रत्ययहेतुत्वाद्युतसिद्धिरितीरणे।

विभुद्रव्यगुणादीनां युतसिद्धिः समागता॥49॥

अर्थ- यदि ऐसा स्वीकार किया जाए कि जो पृथक् प्रत्यय (ज्ञान) में कारण है वह युतसिद्धि है तो विभुद्रव्यों और गुणादिकों में युतसिद्धि प्राप्त होती है।

ततो नायुतसिद्धिः स्यादित्यसिद्धं विशेषणम्।

हेतोर्विपक्षतस्तावत्त्ववच्छेदं न साधयेत्॥50॥

सिद्धेऽपि समवायस्य समवायिषु दर्शनात्।

इहेदमिति संवित्तेः साधनं व्यभिचारि तत्॥51॥

अर्थ - इसप्रकार जब युतसिद्धि नहीं सिद्ध होती है तो उसके अभावरूप अयुतसिद्धि भी सिद्ध नहीं होती, अतः हेतु में दिया गया अयुतसिद्धत्व विशेषण असिद्ध है और इसलिए वह हेतु की विपक्ष से व्यावृत्ति नहीं करा सकता।

यदि किसी तरह उक्त विशेषण सिद्ध भी हो जाए तो भी समवायियों में समवाय का ‘इहेदं’ प्रत्यय देखा जाता है, अतः उसके साथ हेतु व्यभिचारी सिद्ध होता है।

समवायान्तराद्वृत्तौ समवायस्य तत्त्वतः।
 समवायिषु तस्यापि परस्मादित्यनिष्ठितिः॥52॥
 तदबाधास्तीत्यबाधत्वं नाम नेह विशेषणम्।
 हेतोः सिद्धमनेकान्तो यतोऽनेनेति ये विदुः॥53॥
 तेषामिहेति विज्ञानाद्विशेषणविशेष्यता।
 समवायस्य तद्वत्सु तत एव न सिद्ध्यति॥54॥
 विशेषणविशेष्यत्वसम्बन्धोऽप्यन्यतो यदि।
 स्वसम्बन्धिषु वर्तेत तदा बाधाऽनवस्थितिः॥55॥

वैशेषिक - यदि समवायियों की अन्य समवाय से वृत्ति मानी जाए तो उसकी वृत्ति भी अन्य समवाय से मानी जाएगी और इस तरह अनवस्था उक्त प्रत्यय में बाधक होगी, अतः 'अबाधितत्व' विशेषण नहीं है जिससे कि व्यभिचारी सिद्ध हो।

जैन - इस तरह तो समवायियों में समवाय का 'इहेदं' ज्ञान से विशेषण-विशेष्यत्व सम्बन्ध भी सिद्ध नहीं हो सकेगा, क्योंकि वह विशेषण-विशेष्यत्व सम्बन्ध भी अपने सम्बन्धियों में अन्य विशेषण-विशेष्यत्व सम्बन्ध से रहेगा और इस तरह (समवायियों और समवाय में विशेषण-विशेष्यभाव मानने में भी) अनवस्था दोष उत्पन्न होगा।

वैशेषिक - 'इन समवायियों में समवाय है' - इस ज्ञान से समवाय और समवायियों में यद्यपि अयुतसिद्धपना प्रसिद्ध है, क्योंकि समवाय पृथक् आश्रय में नहीं रहता है, लेकिन 'इहेदं' ज्ञान अबाधित नहीं है और इसलिए उसके साथ हेतु व्यभिचारी नहीं है। कारण, उसमें अनवस्थारूप बाधा मौजूद है।

जैन - नहीं, इसप्रकार विशेषण-विशेष्यत्व सम्बन्ध स्वीकार करने पर भी पूर्ववत् अनवस्था दोष उत्पन्न होता है।

विशेषणविशेष्यत्वप्रत्ययादवगम्यते।

विशेषणविशेष्यत्वमित्यप्येतेन दूषितम्॥56॥

अर्थ- यदि यह कहा जाय कि विशेषण-विशेष्यभाव विशेषण-विशेष्यभाव-ज्ञान से जाना जाता है तो वह ज्ञान भी उपर्युक्त प्रकार से दूषित है। अर्थात् उसमें भी अनवस्था दोष आता है।

तस्यानन्त्यात्प्रपत्तृणामाकांक्षाक्षयतोऽपि वा।
 न दोष इति चेदेवं समवायादिनाऽपि किम्॥57॥
 गुणादिद्रव्ययोर्भिन्नद्रव्ययोश्च परस्परम्।
 विशेषणविशेष्यत्वसम्बन्धोऽस्तु निरङ्कुशः॥58॥
 संयोगः समवायो वा तद्विशेषोऽस्त्वेकधा।
 स्वातंत्र्ये समवायस्य सर्वथैक्ये च दोषतः॥59॥

वैशेषिक - विशेषण-विशेष्यभाव को हमने अनंत स्वीकार किया है, इसलिए अनवस्था दोष नहीं आता। दूसरे, प्रतिपत्ता लोगों की आकांक्षा का नाश भी सम्भव है, इसलिए भी अनवस्था दोष नहीं आ सकता।

जैन - परन्तु उनका यह कहना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि इस तरह तो समवाय आदि सम्बन्धों को मानना भी व्यर्थ ठहरेगा। तथा गुणादिक और द्रव्य में तथा द्रव्य और द्रव्य में भी विशेषण-विशेष्यभावरूप सम्बन्ध ही मानना उचित एवं युक्त सिद्ध होगा।

संयोग तथा समवाय आदि सम्बन्धों को उसी विशेषण-विशेष्यभाव के अनेक भेद स्वीकार करना चाहिए। तथा यदि समवाय को स्वतन्त्र और सर्वथा एक माना जाय तो उसमें अनेक दोष आते हैं।

स्वतंत्रस्य कथं तावदाश्रितत्वं स्वयं मतम्।
 तस्याश्रितत्ववचने स्वातंत्र्यं प्रतिहन्यते॥60॥
 समवायिषु सत्स्वेव समवायस्य वेदनात्।
 आश्रितत्वे दिगादीनां मूर्तद्रव्याश्रितिर्न किम्॥61॥

कथं चानाश्रितः सिद्ध्येत्सम्बन्धः सर्वथा क्वचित्।
 स्वसम्बन्धिषु येनातः सम्भवेन्नियतस्थितिः॥62॥
 एक एव च सर्वत्र समवायो यदीष्यते।
 तदा महेश्वरे ज्ञानं समवैति न खे कथम्॥63॥
 इहेति प्रत्ययोऽप्येष शङ्करे न तु खादिषु।
 इति भेदः कथं सिद्ध्येन्नियामकमपश्यतः॥64॥
 न चाचेतनता नत्र सम्भाव्येत नियामिका।
 शम्भावपि तदास्थानात्खादेस्तदविशेषतः॥65॥
 नेशो ज्ञाता न चाज्ञाता स्वयं ज्ञानस्य केवलम्।
 समवायात्सदा ज्ञाता यद्यात्मैव स किं स्वतः॥66॥
 नायमात्मा न चानात्मा स्वात्मत्वसमवायतः।
 सदात्मैवेति चेदेवं द्रव्यमेव स्वतोऽसिधत्॥67॥
 नेशो द्रव्यं न चाद्रव्यं द्रव्यत्वसमवायतः।
 सर्वदा द्रव्यमेवेति यदि सन्नेव स स्वतः॥68॥
 न स्वतः सदसन्नापि सत्त्वेन समवायतः।
 सन्नेव शश्वदित्युक्तौ व्याघातः केन वार्यते॥69॥
 स्वरूपेणासतः सत्त्वसमवाये च खाम्बुजे।
 स स्यात्किन्न विशेषस्याभावात्तस्य ततोऽञ्जसा॥70॥
 स्वरूपेण सतः सत्त्वसमवायेऽपि सर्वदा।
 सामान्यादौ भवेत्सत्त्वसमवायोऽविशेषतः॥71॥
 स्वतः सतो यथा सत्त्वसमवायस्तथास्तु सः।
 द्रव्यत्वात्मत्वबोद्धृत्वसमवायोऽपि तत्त्वतः॥72॥
 द्रव्यस्यैवात्मनो बोद्धुः स्वयं सिद्धस्य सर्वदा।
 न हि स्वतोऽतथाभूतस्तथात्वसमवायभाक्॥73॥

स्वयं ज्ञत्वे च सिद्धेऽस्य महेशस्य निरर्थकम्।
 ज्ञानस्य समवायेन ज्ञत्वस्य परिकल्पनम्॥74॥
 तत्स्वार्थव्यवसायात्मज्ञानतादात्म्यमृच्छतः।
 कथंचिदीश्वरस्यास्ति जिनेशत्वमसंशयम्॥75॥
 स एव मोक्षमार्गस्य प्रणेता व्यवतिष्ठते।
 सदेहः सर्वविन्नष्टमोहो धर्मविशेषभाक्॥76॥
 ज्ञानादन्यस्तु निर्देहः सदेहो वा न युज्यते।
 शिवः कर्त्तोपदेशस्य सोऽभेत्ता कर्मभूताम्॥77॥

यदि समवाय स्वतंत्र है तो उसमें तो आपने स्वयं आश्रितपना माना है, वह कैसे बनेगा? और आश्रित कहने पर उसकी स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है।

यदि कहो कि समवायियों के होने पर ही समवाय का ज्ञान होता है इसलिए समवाय में आश्रितपना कहा है तो फिर दिगादि भी मूर्तद्रव्यों के आश्रित हो जाएँगे। कैसे नहीं हो जाएँगे?

यदि कहो कि समवाय परमार्थ से अनाश्रित ही है, आश्रितपना तो उपचार से माना है तो फिर वह सम्बन्ध ही कैसे सिद्ध होगा जिससे कि उसकी अपने सम्बन्धियों में नियत स्थिति सम्भव हो?

यदि कहा जाए कि एक ही समवाय सर्वत्र है तो फिर महेश्वर-ज्ञान का समवाय महेश्वर में ही है, आकाशादि में नहीं -ऐसा कैसे है?

यदि कहा जाए कि 'इहेदम् प्रत्यय' महेश्वर में ही होता है, आकाशादि में नहीं, इसलिए महेश्वर-ज्ञान का समवाय महेश्वर में ही है, आकाशादि में नहीं, तो इस प्रकार का भेद कैसे सिद्ध हो सकता है, क्योंकि उक्त प्रत्यय का नियामक कोई नहीं दिखाई देता।

यदि कहा जाए कि उक्त प्रत्यय में अचेतनपना नियामक है तो वह अचेतनपना तो महेश्वर में भी विद्यमान है और इसलिए उसमें और आकाशादि में कोई विशेषता नहीं है।

यदि कहा जाए कि महेश्वर स्वयं न चेतन है न अचेतन, वह तो केवल ज्ञान के समवाय से ज्ञाता है तो बतलाइए कि वह स्वतः क्या है।

यदि वह स्वतः आत्मा है तो यह भी सत्य सिद्ध नहीं होगा क्योंकि आत्मा भी आत्मत्व के समवाय से आत्मा माना गया है।

यदि आप कहें कि महेश्वर न आत्मा है न अनात्मा, वह तो केवल आत्मत्व के समवाय से सदा आत्मा है तो फिर वही प्रश्न उपस्थित होता है कि वह स्वतः क्या है?

यदि आप कहें कि स्वतः द्रव्य है तो वह द्रव्य भी स्वतः सिद्ध नहीं होता, क्योंकि द्रव्यत्व के समवाय से ही उसे द्रव्य माना गया है।

यदि कहा जाए कि महेश्वर न द्रव्य है न अद्रव्य, केवल द्रव्यत्व के समवाय से सदा द्रव्य है तो फिर वही प्रश्न उपस्थित होता है कि वह स्वतः क्या है?

यदि वह स्वतः सत् है तो वह स्वतः सत् भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि सत्ता के समवाय से उसे सत् माना गया है। यदि कहा जाए कि वह स्वतः न सत् है न असत्, केवल सत्ता के समवाय से सत् है तो कथन में जो विरोध उत्पन्न होगा उसका निवारण कैसे होगा? क्योंकि स्वरूप से ही असत् के भी सत्ता का समवाय माना जाए तो वह आकाश-कमल में क्यों न माना जाए, क्योंकि इसमें और उसमें कोई अन्तर नहीं रह जाएगा।

तथा यदि स्वरूप से सत् के सत्ता का समवाय स्वीकार किया जाएगा तो वह समवाय सदा सामान्यादि में भी हो सकता है, क्योंकि

महेश्वर और सामान्यादि में स्वरूप सत् की अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है, दोनों समान हैं। तथा जिसप्रकार स्वतः सत् के भी सत्ता का समवाय मान लिया उसीप्रकार द्रव्यत्व, चेतनत्व, आत्मत्व का समवाय भी स्वतः सिद्ध द्रव्य, आत्मा, चेतन के सदा मानिए, क्योंकि वास्तव में जो स्वतः द्रव्यादि रूप नहीं है, उसके द्रव्यत्वादि का समवाय नहीं बन सकता।

इसप्रकार जब महेश्वर स्वयं ही ज्ञाता सिद्ध हो जाता है तो उसके ज्ञान के समवाय से ज्ञातापने की कल्पना करना सर्वथा निरर्थक है। अतः ज्ञान को स्वार्थव्यवसायात्मक और महेश्वर से कथंचित् अभिन्न मानना चाहिए। तथा ऐसी स्थिति में महेश्वर को जिनेश्वरत्व प्राप्त होता है। और वही मोक्षमार्ग का प्रणेता सिद्ध होता है और सशरीरी सर्वज्ञ, वीतराग एवं धर्मविशेष योगी भी सिद्ध होता है, किन्तु ज्ञान से भिन्न महेश्वर चाहे वह सशरीरी हो या अशरीरी, मोक्षमार्गोपदेष्टा नहीं सिद्ध हो सकता, क्योंकि वह कर्मपर्वतों का भेता भी सिद्ध नहीं होता। शरीर नामकर्म और तीर्थकर नामकर्म के उदय से युक्त ही मोक्षमार्गोपदेष्टा सिद्ध होता है और वह जिनेश्वर ही है, महेश्वर नहीं।

इसप्रकार नैयायिक-वैशेषिक द्वारा मान्य तत्त्व की समीक्षा करते हुए उनके उपदेष्टा ईश्वर या महेश्वर के आप्तत्व का निराकरण किया गया। अब आगे सांख्यदर्शनाभिमत कपिल के आप्तत्व का निराकरण किया जायेगा।

‘आप्तपरीक्षा’ जैनदर्शन का एक अपूर्व और श्रेष्ठ ग्रन्थ है। इसमें दर्शनान्तरीय पदार्थों की व्यवस्थित मीमांसा और उनके उपदेशकों (ईश्वर, कपिल, बुद्ध और ब्रह्म) की परीक्षा का जो विशद, विस्तृत, युक्तिपूर्ण वर्णन किया गया है, वह प्रायः अन्यत्र अलभ्य है।

- डॉ. दरबारीलाल कोठिया, आप्तपरीक्षा प्रस्तावना, पृष्ठ 20

कपिल-परीक्षा

अब सांख्य-मत द्वारा मान्य तत्त्व की समीक्षा करते हुए उनके उपदेष्टा कपिल¹ के आप्तत्व का निराकरण करते हैं।

एतेनैव प्रतिव्यूढः कपिलोऽप्युपदेशकः।

ज्ञानादर्थान्तरत्वस्याविशेषात्सर्वथा स्वतः॥78॥

ज्ञानसंसर्गतो ज्ञत्वमज्ञस्यापि न तत्त्वतः।

व्योमवच्चेतनस्यापि नोपपद्येत मुक्तवत्॥79॥

अर्थ- उपर्युक्त कथन से ही (महेश्वर के मोक्षमार्गोपदेशित्व का निराकरण कर देने से ही) कपिल के भी मोक्षमार्गोपदेशित्व का निराकरण हुआ जान लेना चाहिए, क्योंकि वह भी अपने ज्ञान से सर्वथा भिन्न कहा गया है और इसलिए वह भी सर्वज्ञ न हो सकने से मोक्षमार्ग का प्रणेता नहीं बन सकता है।

यदि ज्ञान के संसर्ग से उसे ज्ञाता -सर्वज्ञ कहा जाय तो भी वह परमार्थतः सर्वज्ञ नहीं हो सकता, जैसे- आकाश। यदि यह कहा जाय कि कपिल तो चेतन है, आकाश चेतन नहीं है, इसलिए चेतन कपिल के ज्ञानसंसर्ग से सर्वज्ञता बन जाती है तो मुक्तात्मा की तरह वह भी नहीं बनेगी अर्थात् जिस प्रकार मुक्तात्मा चेतन होते हुए भी आपके मत में सर्वज्ञ नहीं माना गया है, उसी तरह कपिल के चेतन होने पर भी वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता है।

1. जैन शास्त्रों के अनुसार कपिल, प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के पौत्र और भरत चक्रवर्ती के पुत्र मारीचि के पुत्र या शिष्य थे और ऋषभदेव के साथ दीक्षित हुए चार हजार राजाओं में परिगणित थे। कपिल का उल्लेख जैन परम्परा में अनेकत्र मिलता है।

यथा -

1. "विधाय दर्शनं सांख्यं कुमारेण मरीचिना।

व्याख्यातं निजशिष्यस्य कपिलस्य पटीयसा ॥"

- धर्मपरीक्षा, 18/56

2. "कपिलादि रचित श्रुत कौ अभ्यास।"

- दौलतराम, छहढाला, 2/6

प्रधानं ज्ञत्वतो मोक्षमार्गस्यास्तूपदेशकम्।

तस्यैव विश्ववेदित्वाद्भेतृत्वात्कर्मभूभृताम्॥80॥

इत्यसम्भाव्यमेवास्याचेतनत्वात्पटादिवत्।

तदसम्भवतो नूनमन्यथा निष्फलः पुमान्॥81॥

भोक्तात्मा चेत्स एवास्तु कर्त्ता तदविरोधतः।

विरोधे तु तयोर्भोक्तुः स्याद्भुजौ कर्त्तृता कथम्॥82॥

प्रधानं मोक्षमार्गस्य प्रणेतृ स्तूयते पुमान्।

मुमुक्षुभिरिति ब्रूयात्कोऽन्योऽकिञ्चित्करात्मनः॥83॥

अर्थ- प्रधान मोक्षमार्ग का उपदेशक है, क्योंकि वह ज्ञ है और ज्ञ इसलिए है, क्योंकि वह विश्ववेदी है, सर्वज्ञ है तथा सर्वज्ञ भी इसलिए है, क्योंकि वह कर्मपर्वतों का भेदक है।

किन्तु सांख्यों का यह मत असम्भव है, क्योंकि उनका प्रधान वस्त्रादिक की तरह अचेतन है, इसलिए उसके कर्मपर्वतों का भेदापन, विश्ववेदिता या ज्ञातृता एवं मोक्षमार्ग का उपदेशकपना -ये सब असम्भव हैं। अन्यथा निश्चय ही पुरुष निरर्थक हो जायगा।

अगर कहें कि पुरुष भोक्ता है इसलिए वह निरर्थक नहीं है तो वही कर्त्ता भी हो, क्योंकि कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व में विरोध नहीं है-दोनों एक जगह बन सकते हैं। और यदि उसमें विरोध कहा जाय तो भोक्ता के भी भुजिक्रिया सम्बन्धी कर्त्तृता कैसे बन सकेगी?

सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि प्रधान मोक्षमार्ग का उपदेशक है और स्तुति मुमुक्षु पुरुष की करते हैं! इस प्रकार का कथन आत्मा को अकिञ्चित्कर मानने या कहने वाले सांख्यों के सिवाय दूसरा कौन कर सकता है? अर्थात् सांख्यों के सिवाय ऐसा कथन कोई भी नहीं करता है।

सारांश - सांख्यमत में कपिल को आप्त माना गया है, किन्तु

वहाँ आत्मा को ज्ञान से भिन्न कहा है, अतः इसी आधार पर जैनाचार्य कहते हैं कि कपिल तो ज्ञान से भिन्न होने के कारण सर्वज्ञ ही सिद्ध नहीं होता है, अतः आप्त कैसे हो सकता है ? वह तो ज्ञान से भिन्न होने के कारण वास्तव में अचेतन ही सिद्ध होता है और ऐसी स्थिति में उसके कर्मभूतत्वेतत्त्व और मोक्षमार्गनेतृत्व गुण भी सिद्ध नहीं हो सकते।

सांख्यमत में आत्मा को भोक्ता तो माना है, पर कर्ता नहीं। इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि सर्वथा ऐसा ही नहीं कहा जा सकता, क्योंकि भोक्ता भी वास्तव में 'भुजि' क्रिया के कर्ता को ही तो कहते हैं। यदि वह आत्मा सर्वथा अकर्ता हो तो वह 'भुजि' क्रिया का कर्ता अर्थात् भोक्ता भी सिद्ध नहीं हो सकता।

कठिन कार्य को सुगम करने का प्रयास

आप्त का अर्थ है - प्रामाणिक, सच्चा, कभी धोखा न देने वाला। जो प्रामाणिक है, सच्चा है वही आप्त है। उसी का सब विश्वास करते हैं। लोक में ऐसे आप्त पुरुष सदा सर्वत्र पाये जाते हैं, जो किसी एक खास विषय में प्रामाणिक माने जाते हैं या व्यक्तिविशेष, समाजविशेष और देशविशेष के प्रति प्रामाणिक होते हैं। किन्तु सब विषयों में, खासकर उन विषयों में, जो हमारी इन्द्रियों के अगोचर हैं, सदा सबके प्रति जो प्रामाणिक हो - ऐसा आप्त-व्यक्ति प्रथम तो होना ही दुर्लभ है और यदि वह हो भी तो उसकी आप्तता की जांच करके उसे आप्त मान लेना कठिन है। प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वारा आचार्य विद्यानन्द ने उसी कठिन कार्य को सुगम करने का सफल प्रयास किया है।

- पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री, आप्तपरीक्षा, प्राक्कथन

सुगत-परीक्षा

नैयायिक, वैशेषिक और सांख्य - इन तीनों का निराकरण करने के बाद अब बौद्धाभिमत आप्त का निराकरण करते हैं। यथा-

सुगतोऽपि न निर्वाणमार्गस्य प्रतिपादकः।

विश्वतत्त्वज्ञतापायात्तत्त्वतः कपिलादिवत्॥४४॥

अर्थ- सुगत (गौतम बुद्ध) भी मोक्षमार्ग का प्रतिपादक नहीं है, क्योंकि उसके भी कपिलादि की तरह परमार्थतः सर्वज्ञता का अभाव कहा गया है।

संवृत्या विश्वतत्त्वज्ञः श्रेयोमार्गोपदेश्यपि।

बुद्धो वन्द्यो न तु स्वप्नस्तादृगित्यज्ञचेष्टितम्॥४५॥

अर्थ- "गौतम बुद्ध संवृति से सर्वज्ञ है और मोक्षमार्ग का उपदेशक भी है, अतएव वह वन्दनीय है, किन्तु स्वप्न वन्दनीय नहीं है, क्योंकि वह संवृति से भी सर्वज्ञ और मोक्षमार्गोपदेशक नहीं है" - यदि ऐसा कहा जाए तो यह कथन भी अज्ञानतापूर्ण है।

यत्तु संवेदनाद्वैतं पुरुषाद्वैतवन्न तत्।

सिद्धयेत्स्वतोऽन्यतो वापि प्रमाणात्स्वेष्टहानितः॥४६॥

अर्थ- तथा जो संवेदनाद्वैतवाद (विज्ञान को ही एक मात्र तत्त्व मानना) है वह भी पुरुषाद्वैत की तरह स्वतः या परतः किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता, क्योंकि अन्य प्रमाण से उसकी सिद्धि मानने में स्वेष्ट-हानि का प्रसंग आता है अर्थात् संवेदनाद्वैतवाद की ही सिद्धि नहीं हो सकती है।

सारांश - बौद्ध मत में सुगत अर्थात् गौतम बुद्ध को आप्त माना गया है, किन्तु वहाँ उन्हें सर्वज्ञ नहीं कहा गया है; अतः इसी आधार पर जैनाचार्यों का कहना है कि सर्वज्ञ न होने के कारण उसे आप्त नहीं माना जा सकता।

इस पर बौद्ध कहते हैं कि यद्यपि सुगत परमार्थतः सर्वज्ञ नहीं हैं, पर संवृति (व्यवहार, उपचार) से तो सर्वज्ञ हैं ही, अतः उन्हें आप्त मानना चाहिए।

इस पर जैन कहते हैं कि फिर तो उनकी सर्वज्ञता भी पारमार्थिक सिद्ध नहीं हुई, व्यावहारिक या औपचारिक ही सिद्ध हुई, अतः उन्हें परमार्थतः आप्त नहीं माना जा सकता।

बौद्धमत में संवेदनाद्वैतवाद नामक सिद्धान्त माना गया है, जिसके अनुसार इस विश्व में संवेदन अर्थात् ज्ञान ही एक मात्र तत्त्व है। उस पर भी जैनाचार्यों का कहना है कि उसे भी सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह बिना प्रमाण तो सिद्ध होगा नहीं और प्रमाण प्रस्तुत करते ही अद्वैत नष्ट होता है।

इसप्रकार उनकी तत्त्वव्यवस्था समीचीन सिद्ध नहीं होती और इसी आधार पर सुगत भी आप्त सिद्ध नहीं होते।

आप्त का सेवक सदा नीरोग रहता है

नरो मिताहारविहारसेवी, समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः।

दाता शमो सत्यपरः क्षमावान्, आप्तोपसेवी भवत्यरोगः॥

- सुश्रुतसंहिता

जो मनुष्य मर्यादित आहार-विहार करता है, सोच-विचार कर कार्य करता है, विषयों में आसक्त नहीं रहता है, दाता होता है, शान्त रहता है, सत्यपरायण होता है, क्षमावान होता है और आप्तोपसेवी होता है, वह सदा रोगरहित रहता है।

परमपुरुष-परीक्षा

यहाँ 'परमपुरुष' का अर्थ है- ब्रह्म। इसे वेदान्ती आप्त के रूप में स्वीकार करते हैं।

पूर्व में नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य और बौद्ध द्वारा मान्य आप्त के आप्तत्व का निराकरण किया जा चुका है। अब वेदान्ताभिमत परमपुरुष या ब्रह्म के भी आप्तत्व का निराकरण करते हैं।

यद्यपि 'आप्तपरीक्षा' ग्रन्थ में मूल में एक भी कारिका परमपुरुष या ब्रह्म के आप्तत्व-निराकरण की अलग से नहीं प्राप्त होती, किन्तु 86वीं कारिका में विज्ञानाद्वैतवादी बौद्धों का निराकरण किया गया था और वेदान्तमत उसी से मिलता-जुलता है, अतः आचार्यदेव ने उसी कारिका की स्वोपज्ञ टीका में इस प्रकरण को उठाकर प्रस्तुत कर दिया है। इसका संक्षिप्त सारांश इस प्रकार है-

परमपुरुष या ब्रह्म का जैसा वर्णन आप करते हैं, वैसा युक्ति से समीचीन सिद्ध नहीं होता है। यथा-

आप (वेदान्ती) कहते हैं कि वह परमपुरुष प्रतिभास-सामान्य चैतन्यरूप है और वही पारमार्थिक है, क्योंकि देश, काल व आकार का भेद होने पर भी प्रतिभास-सामान्य का कभी-कहीं अभाव नहीं होता।

किन्तु हम (जैन) आपसे पूछते हैं कि जो यह प्रतिभास-सामान्य है वह समस्त प्रतिभास-विशेषों से रहित है अथवा उनसे सहित है? पहला पक्ष तो असिद्ध है, क्योंकि समस्त प्रतिभास-विशेषों से रहित प्रतिभास-सामान्य का अनुभव नहीं होता, किसी प्रतिभास-विशेष से सहित ही प्रतिभास-सामान्य का अनुभव होता है।

और भी हम (जैन) पूछते हैं कि प्रतिभास-सामान्य सामान्यरूप है अथवा द्रव्यरूप? यदि पहला पक्ष स्वीकार करें तो वह सत्तारूप ही है, क्योंकि प्रतिभास-सामान्य ही परसामान्यरूप से व्यवस्थित है।

तात्पर्य यह कि प्रतिभास-सामान्य ही सत्ता या परसामान्यरूप है और सामान्य बिना विशेषों के बन नहीं सकता, अतएव द्वैत का प्रसङ्ग प्राप्त होता है।

इसप्रकार यह स्पष्ट हुआ कि प्रतिभाससामान्य भी प्रतिभास-विशेष के बिना सिद्ध नहीं होता और ऐसी स्थिति में प्रतिभासाद्वैत/विज्ञानाद्वैत/संवेदनाद्वैत भी सिद्ध नहीं होता।

वेदान्ती - प्रतिभासविशेष हैं तो, पर वे सत्य नहीं हैं, पारमार्थिक नहीं हैं।

जैन - ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि इसतरह तो फिर प्रतिभाससामान्य भी सत्य नहीं सिद्ध होगा।

पुनश्च, ज्ञानाद्वैत को मानने पर ज्ञान ही ज्ञेयरूप भी प्राप्त होगा और ऐसी स्थिति में पुरुषाद्वैत के स्थान पर ज्ञेयाद्वैत सिद्ध हो जायेगा।

वेदान्ती - ज्ञान के अभाव में ज्ञेय कैसे सिद्ध होगा ?

जैन - ज्ञेय के अभाव में भी ज्ञान कैसे सिद्ध होगा ? ज्ञान ज्ञेय का अविनाभावी है।

वेदान्ती - स्वप्न, इन्द्रजालादि में ज्ञेय के बिना भी ज्ञान देखा जाता है।

जैन - नहीं, वहाँ भी ज्ञेयसामान्य का सद्भाव होता है, अतः ज्ञान को स्वीकार करने वाले को ज्ञेय भी स्वीकार करना अनिवार्य है, अन्यथा ज्ञान भी सिद्ध नहीं होगा।

इसप्रकार पुरुषाद्वैत या विज्ञानाद्वैत सिद्ध नहीं होता और इसीलिए परमपुरुष भी आप्त सिद्ध नहीं होता।

अर्हत्-परीक्षा

ईश्वर, कपिल, सुगत और ब्रह्म के आप्तत्व का निराकरण करने के बाद अब अर्हत् के आप्तत्व को सिद्ध करना प्रारम्भ करते हैं।

जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है कि आप्त में तीन गुण होना अनिवार्य है- 1. सर्वज्ञत्व, 2. कर्मभूतभेतृत्व, 3. मोक्षमार्गनेतृत्व। अतः यहाँ सबसे पहले अर्हत्सर्वज्ञसिद्धि करते हैं। उसके बाद अर्हत्-कर्म- भूतभेतृत्व की सिद्धि की जाएगी और उसके बाद अर्हत्-मोक्षमार्गनेतृत्व की सिद्धि की जाएगी।

तीनों गुण सिद्ध होने के बाद ही अर्हत् के आप्तत्व की सिद्धि होगी, अतः 'अर्हत्-परीक्षा' का यह प्रकरण तीन भागों में विभक्त किया गया है -

1. अर्हत्-सर्वज्ञसिद्धि
2. अर्हत्-कर्मभूतभेतृत्वसिद्धि
3. अर्हत्-मोक्षमार्गनेतृत्वसिद्धि

इसके अतिरिक्त चूँकि यह ग्रन्थ 'तत्त्वार्थसूत्र' के मंगलाचरण श्लोक 'मोक्षमार्गस्य नेतारं.....' के आधार पर रचा गया है, अतः उसके अन्तिम चरण 'वन्दे तद्गुणलब्धये' की व्याख्या हेतु 'अर्हत्-वन्द्यत्वसिद्धि' नामक प्रकरण भी इसी में समाहित किया गया है।

इनमें से अब सर्वप्रथम 'अर्हत्-सर्वज्ञसिद्धि' प्रकरण प्रारम्भ करते हैं।

अर्हत्-सर्वज्ञसिद्धि

सोऽर्हन्नेव मुनीन्द्राणां वन्द्यः समवतिष्ठते।

तत्सद्भावे प्रमाणस्य निर्बाधस्य विनिश्चयात्॥८७॥

अर्थ- वह आप्त अर्हन्त ही है और वही आप्त होने से मुनीश्वरों द्वारा वन्दनीय सिद्ध होता है। तथा उसके सद्भाव को सिद्ध करने में सुनिश्चित साधक प्रमाण भी निर्बाध रूप से उपलब्ध है।

ततोऽन्तरिततत्त्वानि प्रत्यक्षाण्यर्हतोऽज्जसा।

प्रमेयत्वाद्यथास्मादृक् प्रत्यक्षार्थाः सुनिश्चिताः॥८८॥

अर्थ- वह साधक प्रमाण इसप्रकार है- अन्तरित पदार्थ अर्हन्त के अत्यन्त प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि वे प्रमेय हैं, जिसप्रकार कि हमारे सुनिश्चित पदार्थ हमें प्रत्यक्ष होते हैं।

प्रश्न- आपका हेतु अनैकान्तिक (व्यभिचारी) है, क्योंकि वह विपक्ष में भी रहता है।

उत्तर- उसी का समाधान करते हैं-

हेतोर्न व्यभिचारोऽत्र दूरार्थैर्मन्दरादिभिः।

सूक्ष्मैर्वा परमाण्वाद्यैस्तेषां पक्षीकृतत्वतः॥८९॥

अर्थ- मन्दर (सुमेरु पर्वत) आदि दूरवर्ती पदार्थों और परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थों के साथ भी हमारा हेतु अनैकान्तिक नहीं है, क्योंकि यहाँ उन सबको पक्ष बनाया गया है।

तात्पर्य यह है कि सर्वज्ञसिद्धि करते समय तीन प्रकार के पदार्थों की चर्चा आती है - सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती; किन्तु यहाँ ८८वीं कारिका में मात्र 'अन्तरित' पदार्थों की ही चर्चा की गई थी, अतः प्रश्न उपस्थित हुआ कि सूक्ष्म एवं दूरवर्ती पदार्थों को क्यों छोड़ दिया गया। और इस ८९वीं कारिका में उसी प्रश्न का समाधान करते

हुए कहा है कि नहीं, हमने सूक्ष्म एवं दूरवर्ती पदार्थों को छोड़ा नहीं है, अपितु 'अन्तरित' पद में ही उन दोनों का भी समावेश कर लिया है। यथा-

अन्तरित पदार्थ तीन प्रकार के हैं- 1. देशान्तरित- दूर देशवर्ती पदार्थ देशान्तरित कहलाते हैं। जैसे- सुमेरु पर्वत आदि। 2. कालान्तरित- भूत-भविष्यत् कालवर्ती पदार्थ कालान्तरित कहलाते हैं। जैसे- राम-रावणादि। 3. स्वभावान्तरित- अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ स्वभावान्तरित कहलाते हैं। जैसे- परमाणु आदि।

इसप्रकार यह अत्यन्त स्पष्ट है कि सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती सभी तरह के पदार्थों को यहाँ पक्ष बनाया गया है, कोई भी पक्ष से बाहर नहीं है, जिससे कि प्रमेयत्व हेतु अनैकान्तिक होता।

इसी बात को पुनः कहते हैं-

तत्त्वान्यन्तरितानीह देशकालस्वभावतः।

धर्मादीनि हि साध्यन्ते प्रत्यक्षाणि जिनेशिनः॥९०॥

अर्थ- देश, काल और स्वभाव से अन्तरित सभी धर्मादि तत्त्व/पदार्थ अर्हन्त जिनेश के प्रत्यक्ष सिद्ध किये जाते हैं।

प्रश्न- ठीक है, हेतु तो अनैकान्तिक (व्यभिचारी) नहीं है, किन्तु दृष्टान्त तो साध्य-विकल है?

समाधान- नहीं, दृष्टान्त भी साध्य-विकल नहीं है। यथा-

न चास्मादृक्समक्षाणामेवमर्हत्समक्षता।

न सिद्ध्येदिति मन्तव्यमविवादाद्द्वयोरपि॥९१॥

अर्थ- उक्त (कारिका ८८ में कथित) अनुमान में दिये गये दृष्टान्त का अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि हम लोगों के प्रत्यक्ष अर्थ (पदार्थ) अर्हन्त के प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं होंगे, क्योंकि उसमें दोनों को ही विवाद नहीं है।

तात्पर्य यह है कि जो पदार्थ हम लोगों के प्रत्यक्ष हैं वे तो अर्हन्त के प्रत्यक्ष होंगे ही होंगे, उसमें कैसा विवाद? विवाद तो मात्र सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थों में है और इसीलिए उक्त अनुमान में उनको भी प्रत्यक्ष सिद्ध किया गया है।

प्रश्न (मीमांसक)— उक्त अनुमान में प्रदत्त हेतु— ‘प्रमेयत्वात्’
— तो स्वरूपासिद्ध है?

उत्तर— नहीं, ऐसा भी नहीं है। यथा—

न चासिद्धं प्रमेयत्वं कात्स्न्यतो भागतोऽपि वा।

सर्वथाप्यप्रमेयस्य पदार्थस्याव्यवस्थितेः॥१२॥

यदि षड्भिः प्रमाणैः स्यात्सर्वज्ञः केन वार्यते।

इति ब्रुवन्नशेषार्थप्रमेयत्वमिहेच्छति ॥१३॥

चोदनातश्च निःशेषपदार्थज्ञानसम्भवे।

सिद्धमन्तरितार्थानां प्रमेयत्वं समक्षवत्॥१४॥

अर्थ— प्रमेयत्वात् हेतु न तो सम्पूर्ण रूप से असिद्ध है और न ही आंशिक रूप से असिद्ध है, क्योंकि सर्वथा अप्रमेयभूत पदार्थ कोई भी नहीं है, सभी पदार्थ किसी-न-किसी प्रमाण के विषय होने से प्रमेय अवश्य हैं।

आप (मीमांसक) भी जब ऐसा कहते हैं कि छहों प्रमाणों से सर्वज्ञ सिद्ध हो तो उसे कौन रोकता है तो उसका आशय यही होता है कि आप भी अशेष पदार्थों को प्रमेय अवश्य स्वीकार करते हैं।

तथा आप (मीमांसक) ऐसा भी कहते हैं कि वेद से सभी पदार्थों का ज्ञान सम्भव है, अतः इससे भी सिद्ध होता है कि सभी पदार्थों में प्रत्यक्ष जैसा प्रमेयत्व है।

अब कहते हैं कि उक्त हेतु का व्यतिरेक भी निश्चित है—

यन्नार्हन्तः समक्षं तन्न प्रमेयं बहिर्गतः।

मिथ्यैकान्तो यथेत्येवं व्यतिरेकोऽपि निश्चितः॥१५॥

अर्थ— “जो अर्हन्त के प्रत्यक्ष नहीं है, वह प्रमेय नहीं है, जैसे कि प्रत्यक्ष-बहिर्गत मिथ्या एकान्त।” —इसप्रकार हेतु का व्यतिरेक भी सुनिश्चित है, सन्दिग्ध नहीं है।

यहाँ ‘मिथ्या एकान्त’ का अर्थ ‘मिथ्या एकान्तों के विषय निरन्वय क्षणिकतादि’ समझना चाहिए।

सुनिश्चितान्वयाद्धेतोः प्रसिद्धव्यतिरेकतः।

ज्ञाताऽर्हन् विश्वतत्त्वानामेवं सिद्ध्येदबाधितः॥१६॥

अर्थ— इसप्रकार हेतु का अन्वय भी सुनिश्चित है और व्यतिरेक भी, अतः उससे अर्हन्त सर्वतत्त्वों के ज्ञाता निर्बाधरूप से सिद्ध होते हैं।

विशेष — यहाँ स्वोपज्ञ टीका में विस्तारपूर्वक सर्वज्ञाभाववादियों का निराकरण प्रस्तुत किया गया है जो मूलतः पठनीय है।

अब कहते हैं कि यद्यपि उक्त प्रकार से ‘अर्हन्त ही सर्वज्ञ है’
— यह साधक प्रमाणों द्वारा अच्छी तरह व्यवस्थित हो जाता है, तथापि यह भी कहते हैं कि उसके समस्त बाधक प्रमाणों का अभाव भी है। यथा—

प्रत्यक्षमपरिच्छिन्दत्त्रिकालं भुवनत्रयम्।

रहितं विश्वतत्त्वज्ञैर्न हि तद्बाधकं भवेत्॥१७॥

नानुमानोपमानार्थापत्त्यागमबलादपि।

विश्वज्ञाभावसंसिद्धिस्तेषां सद्विषयत्वतः॥१८॥

नार्हन्निःशेषतत्त्वज्ञो वक्तृत्वपुरुषत्वतः।

ब्रह्मादिवदिति प्रोक्तमनुमानं न बाधकम्॥१९॥

हेतोरस्य विपक्षेण विरोधाभावनिश्चयात्।

वक्तृत्वादेः प्रकर्षेऽपि ज्ञानानिर्हाससिद्धितः॥१००॥

नोपमानमशेषाणां नृणामनुपलम्भतः।
 उपमानोपमेयानां तद्बाधकमसम्भवात्॥101॥
 नार्थापत्तिरसर्वज्ञं जगत्साधयितुं क्षमा।
 क्षीणत्वादन्यथाभावाभावात्तत्तद्बाधिका॥102॥
 नागमोऽपौरुषेयोऽस्ति सर्वज्ञाभावसाधनः।
 तस्य कार्ये प्रमाणत्वादन्यथानिष्टसिद्धितः॥103॥
 पौरुषेयोऽप्यसर्वज्ञप्रणीतो नास्य बाधकः।
 तत्र तस्याप्रमाणत्वाद्धर्मादाविव तत्त्वतः॥104॥
 अभावोऽपि प्रमाणं ते निषेध्याधारवेदने।
 निषेध्यस्मरणे च स्यान्नास्तितान्नानमञ्जसा॥105॥
 न चाशेषजगज्ज्ञानं कुतश्चिदुपपद्यते।
 नापि सर्वज्ञसंवित्तिः पूर्वं तत्स्मरणं कुतः॥106॥
 येनाशेषजगत्यस्य सर्वज्ञस्य निषेधनम्।
 परोपगमतस्तस्य निषेधे स्वेष्टबाधनम्॥107॥
 मिथ्यैकान्तनिषेधस्तु युक्तोऽनेकान्तसिद्धितः।
 नासर्वज्ञजगत्सिद्धेः सर्वज्ञप्रतिषेधनम्॥108॥

अर्थ - प्रत्यक्ष तो उसका बाधक है नहीं, क्योंकि जो तीन काल तीन लोक को जानता है, वही यह कह सकता है कि तीनों कालों और तीनों लोकों में सर्वज्ञ नहीं है।

अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और आगम - ये भी सर्वज्ञ के बाधक नहीं हैं, क्योंकि वे सब सत्ता को ही विषय करते हैं, असत्ता को नहीं।

‘अर्हन्त सर्व तत्त्वों का ज्ञाता नहीं है, क्योंकि वह वक्ता है और पुरुष है। जो वक्ता है और पुरुष है वह सर्व तत्त्वों का ज्ञाता नहीं है, जैसे ब्रह्मा आदि’ -यह अनुमान भी सर्वज्ञ का बाधक नहीं है;

क्योंकि वक्तापन और पुरुषपन हेतुओं का विपक्ष (सर्वज्ञता) के साथ विरोध का अभाव निश्चित है। अर्थात् उक्त हेतु विपक्ष में रहते हैं और इसलिए वे अनैकान्तिक हैं। वक्तापन आदि का प्रकर्ष होने पर भी ज्ञान की हानि नहीं होती।

उपमान प्रमाण भी सर्वज्ञ का बाधक नहीं है, क्योंकि समस्त उपमान और उपमेयभूत मनुष्यों की उपलब्धि नहीं होती, क्योंकि वह असम्भव है।

अर्थापत्ति प्रमाण भी जगत को सर्वज्ञशून्य सिद्ध करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि वह अशक्त है और अशक्त इसलिए है कि उसका साध्य के साथ अविनाभाव निश्चित नहीं है।

अपौरुषेय आगम भी सर्वज्ञ के अभाव का साधक नहीं है, क्योंकि वह यज्ञादि कार्य में ही प्रमाण मानना आप मीमांसकों को इष्ट है, अन्यथा अनिष्टसिद्धि का प्रसङ्ग आवेगा।

तथा जो पौरुषेय आगम है वह भी यदि असर्वज्ञपुरुष-रचित है तो वह सर्वज्ञ का बाधक नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञसिद्धि में वह अप्रमाण है, जैसे कि वह धर्मादि में अप्रमाण माना जाता है। और सर्वज्ञपुरुष-रचित आगम तो मीमांसकों को मान्य ही नहीं है और इसीलिए वह सर्वज्ञ का बाधक भी नहीं है अपितु साधक ही है।

अभाव प्रमाण भी सर्वज्ञ का बाधक नहीं है, क्योंकि जहाँ निषेध्य का निषेध (अभाव) करना होता है उसका ज्ञान होने पर और जिसका निषेध करना होता है उसका स्मरण होने पर ही नियम से ‘नहीं है’ -ऐसा ज्ञान अर्थात् अभाव प्रमाण प्रवृत्त होता है।

लेकिन न तो किसी प्रमाणादि से समस्त संसार का ज्ञान सम्भव है जहाँ सर्वज्ञ का निषेध करना है और न ही सर्वज्ञ का पहले ज्ञान है- अनुभव है, तब उसका स्मरण कैसे हो सकता है? क्योंकि अनुभवपूर्वक ही स्मरण होता है और सर्वज्ञाभाववादी को पहले कभी

भी अनुभव नहीं है, अतः सर्वज्ञ का स्मरण भी नहीं बनता है। जिससे सम्पूर्ण संसार में प्रस्तुत सर्वज्ञ का अभाव किया जाय। यदि कहा जाय कि सर्वज्ञवादी सर्वज्ञ को स्वीकार करते हैं अतः उनके स्वीकार से हम सर्वज्ञ का अभाव करते हैं तो इसमें आपके इष्ट की बाधा आती है।

मिथ्या एकान्तों का अभाव तो अनेकान्त की सिद्धि से युक्त है। तात्पर्य यह कि यद्यपि हम (जैन) सर्वथा एकान्तों का निषेध करते हैं, पर वह दूसरों के स्वीकार से नहीं करते हैं। किन्तु वस्तु अनेकान्तरूप सिद्ध होने से सर्वथा एकान्त निषिद्ध हो जाते हैं और इसलिए उनको स्वीकार न करने पर भी उनका अभाव बन जाता है। लेकिन सर्वज्ञाभाव-वादी असर्वज्ञ जगत की सिद्धि बतलाकर सर्वज्ञ का निषेध नहीं कर सकते हैं अर्थात् वे यह नहीं कह सकते कि 'चूँकि जगत असर्वज्ञ सिद्ध है, इसलिए सर्वज्ञ निषिद्ध हो जाता है', क्योंकि असर्वज्ञ जगत् अर्थात् जगत् में कहीं भी सर्वज्ञ नहीं है -यह बात किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं है, परन्तु वस्तु सभी प्रमाणों से अनेकान्तात्मक सिद्ध है।

एवं सिद्धः सुनिर्णोतासम्भवद्बाधकत्वतः।

सुखवद्विश्वतत्त्वज्ञः सोऽर्हन्नेव भवानिह॥109॥

स कर्मभूभृतां भेत्ता तद्विपक्षप्रकर्षतः।

यथा शीतस्य भेत्तेह कश्चिदुष्णप्रकर्षतः॥110॥

इसप्रकार बाधक प्रमाणों का अभाव अच्छी तरह निश्चित होने से सुख की तरह विश्वतत्त्वों का ज्ञाता- सर्वज्ञ सिद्ध होता है और वह सर्वज्ञ इस समस्त लोक में हे जिनेन्द्र! आप अर्हन्त ही हैं।

और जो सर्वज्ञ है वही कर्मपर्वतों का भेत्ता (भेदन करने वाला) है, क्योंकि उसके कर्मपर्वतों के विपक्षी का प्रकर्ष पाया जाता है, जैसे कोई उष्ण के प्रकर्ष से शीत का भेदक होता है। इसप्रकार यहाँ पहले तो अनेक साधक तर्कों द्वारा अर्हत्-सर्वज्ञसिद्धि की और बाद में बाधक प्रमाणों का अभाव दिखाकर भी अर्हत्-सर्वज्ञसिद्धि की।

अर्हत्-कर्मभूभृत्भेतृत्वसिद्धि

आप्त के तीन गुण अनिवार्य बताये गये थे- सर्वज्ञत्व, कर्मभूभृत्भेतृत्व और मोक्षमार्ग-नेतृत्व। यहाँ उन तीन गुणों में से एक गुण सर्वज्ञत्व की सिद्धि अर्हन्त में की गई। अब दूसरे गुण कर्मभूभृत्भेतृत्व की सिद्धि अर्हन्त में करते हैं।

प्रश्न- अर्हन्त को आपने सर्वज्ञ सिद्ध किया- सो ठीक, परन्तु कर्म तो कार्य-कारण-परम्परा से अनादि हैं, उनका नाशक कोई भी कैसे हो सकता है?

उत्तर- अनादि होने पर भी जब विपक्षी कारणों का प्रकर्ष मिलता है तो उसे विनष्ट होने में कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती, वह अवश्य ही विनष्ट हो जाता है। बीज और अंकुर अनादि-परम्परा से होने पर भी अग्नि आदि विपक्षी कारणों का प्रकर्ष मिलने पर पूर्णतः नष्ट हो जाते हैं।

प्रश्न- कर्म-पर्वतों का विपक्षी कारण क्या है?

उत्तर- वही कहते हैं-

तेषामागामिनां तावद्विपक्षः संवरो मतः।

तपसा सञ्चितानान्तु निर्जरा कर्मभूभृताम्॥111॥

अर्थ- कर्म दो प्रकार के हैं- आगामी और पूर्वसंचित। आगामी कर्मों का विपक्ष संवर है और संचित कर्मों का विपक्ष तप से होने वाली निर्जरा है।

विशेष- 'तप से होने वाली निर्जरा' का आशय है कि निर्जरा दो प्रकार की होती है- अनुपक्रमा और औपक्रमिकी; उनमें से यहाँ अविपाक/सकाम/औपक्रमिकी निर्जरा ग्रहण करना चाहिए।

प्रश्न- कर्मों के विपक्षी कारणों (संवर और निर्जरा) का परम प्रकर्ष कहाँ सिद्ध होता है?

उत्तर- वही कहते हैं-

तत्प्रकर्ष पुनः सिद्धः परमः परमात्मनि।

तारतम्यविशेषस्य सिद्धेरुष्णप्रकर्षवत्॥112॥

अर्थ- कर्मों के विपक्ष का परम प्रकर्ष परमात्मा में सिद्ध होता है, क्योंकि उसका तारतम्य-विशेष (न्यूनता-अधिकता के स्तर) पाया जाता है, जैसे कि उष्ण प्रकर्ष।

‘उष्णप्रकर्षवत्’ का आशय है कि जिसप्रकार जल में विद्यमान अनादि शीत भी उष्ण प्रकर्ष से विनष्ट हो जाता है, उसीप्रकार संवर-निर्जरा से अनादि कर्मपर्वत भी विनष्ट हो जाते हैं।

अब कर्मपर्वतों का स्वरूप स्पष्ट करते हैं-

कर्माणि द्विविधान्यत्र द्रव्यभावविकल्पतः।

द्रव्यकर्माणि जीवस्य पुद्गलात्मान्यनेकधा॥113॥

भावकर्माणि चैतन्यविवर्त्तात्मानि भान्ति नुः।

क्रोधादीनि स्ववेद्यानि कथंचिच्चिदभेदतः॥114॥

तत्स्कन्धराशयः प्रोक्ता भूभृतोऽत्र समाधितः।

जीवाद्विश्लेषणं भेदः सतो नात्यन्तसंक्षयः॥115॥

अर्थ - जीव के कर्म दो प्रकार के हैं- द्रव्यकर्म और भावकर्म। द्रव्यकर्म तो पुद्गलात्मक हैं और अनेक प्रकार के हैं। तथा भावकर्म आत्मा में होने वाले चैतन्य-विवर्त (परिणाम) हैं जो क्रोधादि रूप हैं, स्वसंवेद्य हैं और आत्मा से कथञ्चित् अभिन्न भी हैं।

यहाँ इन कर्मों की स्कन्धराशि को ही संक्षेप में ‘भूभृत्’ अर्थात् ‘पर्वत’ कहा गया है। तथा यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि उनका जीव से विश्लेषण (अलग) हो जाना ही उनका भेदन है, न कि सर्वथा विनाश, क्योंकि सत् का कभी सर्वथा नाश नहीं होता।

अर्हन्मोक्षमार्गनेतृत्वसिद्धि

अब अर्हन्त के मोक्षमार्ग-नेतृत्व भी सिद्ध करते हैं। उसके लिए सर्वप्रथम ‘मोक्ष’ का अर्थ बताते हैं-

स्वात्मलाभस्ततो मोक्षः कृत्स्नकर्मक्षयान्मतः।

निर्जरासंवराभ्यां नुः सर्वसद्वादिनामिह॥116॥

अर्थ- संवर-निर्जरा के द्वारा सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होने पर जो स्वात्मलाभ होता है वही मोक्ष है - ऐसा सभी आस्तिकों द्वारा मान्य है।

अब कहते हैं कि कुछ नास्तिक मोक्ष का निराकरण करते हैं, किन्तु उनकी बात ध्यान देने योग्य नहीं है-

नास्तिकानान्तु नैवास्ति प्रमाणं तन्निराकृतौ।

प्रलापमात्रके तेषां नावधेयं महात्मनाम्॥117॥

अर्थ- नास्तिक लोग मोक्ष का निराकरण करते हैं, किन्तु उस निराकरण का कोई प्रमाण नहीं है, अतः उनका कहना प्रलाप मात्र है और इसीलिए महात्माओं द्वारा ध्यान देने योग्य नहीं है।

अब कहते हैं कि मोक्ष का मार्ग क्या है-

मार्गो मोक्षस्य वै सम्यग्दर्शनादित्रयात्मकः।

विशेषेण प्रपत्तव्यो नान्यथा तद्विरोधतः॥118॥

अर्थ- मोक्ष का मार्ग वास्तव में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता रूप ही मानना चाहिए, अन्यथा नहीं; क्योंकि अन्यथा मानने से विरोध आता है।

अब कहते हैं कि ऐसे मोक्षमार्ग का प्रणेता एक अर्हन्त ही है-

प्रणेता मोक्षमार्गस्याबाध्यमानस्य सर्वथा।

साक्षाद्य एव स ज्ञेयो विश्वतत्त्वज्ञताश्रयः॥119॥

अर्थ- अर्हन्त ही सर्व प्रकार से अबाधित मोक्षमार्ग का साक्षात् प्रणेता है और वही विश्वतत्त्वज्ञ है- सर्वज्ञ है।

अर्हत्ववन्द्यत्वसिद्धि

अब तक इस ग्रन्थ की कारिका-संख्या 3 के तीन चरणों- मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूताम् और ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां - की विस्तारपूर्वक व्याख्या की गई। अब उसके चौथे या अन्तिम चरण 'वन्दे तद्गुणलब्धये' की भी कुछ बात कहते हैं -

वीतनिःशेषदोषोऽतः प्रवन्द्योऽर्हन् गुणाम्बुधिः।

तद्गुणप्राप्तये सद्भिरिति संक्षेपतोऽन्वयः॥120॥

अर्थ- अर्हन्त दोषों से रहित और गुणों के समुद्र हैं। वे सज्जनों द्वारा उनके इन्हीं उत्तम गुणों की प्राप्ति के लिए वन्दनीय हैं। यही 'मोक्षमार्गस्य नेतारं.....' इत्यादि कारिका का संक्षेप में व्याख्यान है।

अब कहते हैं कि किस कारण से श्रेष्ठ पुरुष वीतराग, सर्वज्ञ, मोक्षमार्ग-प्रणेता अर्हन्त की वन्दना करते हैं-

मोहाक्रान्तान् भवति गुरोर्मोक्षमार्गप्रणीति-

नर्तते तस्याः सकलकुलषध्वंसजा स्वात्मलब्धिः।

तस्यै वन्द्यः परगुरुरिह क्षीणमोहस्त्वमर्हन्-

साक्षात्कुर्वन्मलकमिवाशेषतत्त्वानि नाथ! ॥121॥

अर्थ- जो मोहाक्रान्त है, वह गुरु (आप्त) नहीं हो सकता, क्योंकि वह मोक्षमार्ग का प्रणयन नहीं कर सकता। मोक्षमार्ग के प्रणयन बिना सकल कलुषों के ध्वंस से उत्पन्न होने वाली स्वात्मलब्धि (शिष्यों को) नहीं हो सकती। यही कारण है कि हे अर्हन् ! हे नाथ! आप ही क्षीणमोह होने से और सर्व तत्त्वों के हस्तामलकवत् (हाथ पर रखी हुई स्फटिक मणि के समान) स्पष्ट, निर्मल ज्ञाता होने से स्वात्मोपलब्धि के लिए परम गुरु (आप्त) हो, परम वन्दनीय हो।

तात्पर्य यह है कि आप्त (परमगुरु, परमवन्दनीय) वही हो सकता है, जो हमें स्वात्मोपलब्धि करा सके और स्वात्मोपलब्धि वही करा सकता है जो क्षीणमोह, सर्वतत्त्व-साक्षात्कर्ता और मोक्षमार्गप्रणेता हो तथा वह अर्हन्त ही है, अतः वही वन्दनीय है।

विशेषार्थ - 'करतलामलकवत्' या 'हस्तामलकवत्' का अर्थ प्रायः लोग 'हथेली पर रखे आँवले के समान' करते हैं, पर यह सही अर्थ नहीं है। यहाँ इस 121वीं कारिका की स्वोपज्ञ टीका 'आप्तपरीक्षालंकृति' में इसका अर्थ 'हथेली पर रखी स्फटिक मणि के समान' किया है। यथा - 'करतलनिहित स्फटिकमणिवत्'।

यही अर्थ 'स्वयंभूस्तोत्र' (22/9) की टीका में आचार्य प्रभाचन्द्र ने भी किया है। यथा - "तलामलकवत् तले करतले आमलकः। स्फटिकमणिः, स इव तद्वत्।"

इससे सिद्ध होता है कि 'हस्तामलकवत्' का सही अर्थ 'हथेली पर रखी स्फटिकमणि के समान' ही होता है, 'हथेली पर रखे आँवले के समान' नहीं।

वैसे भी हम समझ सकते हैं कि 'हस्तामलकवत्' का प्रयोग अत्यन्त स्पष्टता या पारदर्शिता को समझाने के लिए किया जाता है और यह बात हथेली पर रखी स्फटिकमणि के उदाहरण से ही भलीभाँति स्पष्ट होती है, हथेली पर रखे आँवले के उदाहरण से नहीं।

“यदि जैन न्याय के कोषागार से विद्यानन्द के ग्रन्थों को अलग कर दिया जाए तो वह एकदम निष्प्रभ-सा हो जाएगा।.....वस्तुतः विद्यानन्द और उनके ग्रन्थों की जितनी प्रशंसा की जाए, थोड़ी है।”

- डॉ. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, आप्तपरीक्षा,
प्रस्तावना, पृष्ठ 72

उपसंहार

अब तीन कारिकाओं द्वारा ग्रन्थ का उपसंहार करते हैं-

(आर्या)

न्यक्षेणाप्तपरीक्षा प्रतिपक्षं क्षपयितुं क्षमा साक्षात्।
प्रेक्षावतामभीक्षणं विमोक्षलक्ष्मीक्षणाय संलक्ष्या॥122॥

(स्रग्धरा)

श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य,
प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत्।
स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथं स्वामिमीमांसितं तत्,
विद्यानदैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै॥123॥

(अनुष्टुप्)

इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ मुनीन्द्रस्तोत्रगोचरा।
प्रणीताप्तपरीक्षेयं कुविवादनिवृत्तये॥124॥

अर्थ - यह 'आप्तपरीक्षा' प्रतिपक्षों (आप्ताभासों) का पूर्णतया निराकरण करने में अत्यन्त समर्थ है, अतः विद्वानों को इसे सदैव मोक्षलक्ष्मी का दर्शन करने के लिए ध्यान में रखना चाहिए।

श्रीमत् 'तत्त्वार्थसूत्र' नामक शास्त्र तो महान् रत्नों को उत्पन्न करने वाला अद्भुत समुद्र है। इसके प्रारम्भ में शास्त्रकार (आचार्य उमास्वामी मुनिराज) ने समस्त पापों को नष्ट करने के लिए जो मंगल स्तोत्र 'मोक्षमार्गस्य नेतारं.....' आदि लिखा है वह 'तीर्थोपमानं' है अर्थात् तीर्थ के समान है, सुन्दर पथ प्रशस्त करने वाला है और श्री समन्तभद्र स्वामी द्वारा भी ('गन्धहस्तिमहाभाष्य' या 'आप्तमीमांसा' के रूप में) मीमांसित है। वही मंगल स्तोत्र मुझ विद्यानन्द के द्वारा अपनी शक्ति के अनुसार किसी तरह सत्य वाक्य और अर्थ की सिद्धि के लिए 'आप्तपरीक्षा' के रूप में कहा गया है।

इसप्रकार 'तत्त्वार्थशास्त्र' अर्थात् 'तत्त्वार्थसूत्र' नामक शास्त्र के प्रारम्भ में समागत मुनीन्द्र-स्तोत्र को विषय बनाने वाली यह 'आप्तपरीक्षा' सर्व विवादों की विनिवृत्ति के लिए तैयार की गई है।

विशेषार्थ- यहाँ कारिका 123 में मूल में आये शब्द 'तत्त्वार्थशास्त्र' का अभिप्राय है - आचार्य उमास्वामी द्वारा रचित तत्त्वार्थसूत्र। तथा उसके प्रारंभ में समागत मुनीन्द्र-स्तोत्र का अभिप्राय है- 'मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम्.....' इत्यादि मंगलाचरण वाला श्लोक।

कहना यह चाहते हैं कि यह 'आप्तपरीक्षा' नामक ग्रन्थ 'तत्त्वार्थसूत्र' के उक्त मंगलाचरण-श्लोक पर आधारित है।

आजकल कुछ लोग कहते हैं कि "मोक्षमार्गस्य नेतारं...." इत्यादि श्लोक तत्त्वार्थसूत्र का मूल श्लोक नहीं है, उसे आचार्य उमास्वामी ने नहीं लिखा है, उसे तो बाद में किसी अन्य टीकाकार ने लिखा है; परन्तु यहाँ 123वीं कारिका में आचार्य विद्यानन्दस्वामी ने स्पष्ट शब्दों में तत्त्वार्थसूत्र की 'महान् रत्नों को उत्पन्न करने वाला अद्भुत समुद्र' कहकर महिमा गाते हुए लिखा है कि "शास्त्रकारैः कृतं यत्"। इससे यह निःसन्देह ज्ञात होता है कि 'मोक्षमार्गस्य नेतारं.....' इत्यादि मंगल-श्लोक को आचार्य उमास्वामी मुनिराज ने ही लिखा है।

यहाँ 'मोक्षमार्गस्य नेतारं.....' इत्यादि श्लोक का उल्लेख अनेक विशेषणों के साथ किया गया है। यथा - 1. स्तोत्रं, 2. तीर्थोपमानं, 3. प्रथितपृथुपथं, 4. स्वामिजीभासित। ये सभी बड़े महत्त्वपूर्ण एवं सारगर्भित हैं। इन्हें गंभीरतापूर्वक समझने की कोशिश करनी चाहिए।

कारिका 124 में 'कुविवाद-निवृत्तये' में 'कु' के दोनों अर्थ ग्राह्य हैं - 1. सर्व, 2. मिथ्या। तात्पर्य हुआ - सर्व मिथ्या विवादों की विनिवृत्ति के लिए।

परिशिष्ट (क)

आप्तमीमांसा : एक अनुशीलन

(मंगलाचरण)

वीतराग सर्वज्ञ जो, स्याद्वाद भाषंत।

उनको मन-वच-काय से, मेरा नमन अनंत॥

1. 'आप्तमीमांसा' के रचयिता और उनकी कृतियाँ -

'आप्तमीमांसा' की रचना आज से लगभग 1800 वर्ष पूर्व विक्रम की द्वितीय-तृतीय शताब्दी में आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने की है।

'आप्तमीमांसा' का दूसरा नाम 'देवागमस्तोत्र' भी प्रसिद्ध है, क्योंकि इसका प्रारंभ 'देवागम' शब्द से होता है और यह मूलतः एक स्तोत्रकाव्य है। इसमें आप्त की मीमांसा के साथ उसकी स्तुति भी की गई है।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी का परिचय यद्यपि पूर्णरूप से प्राप्त नहीं होता, पर जितना भी उपलब्ध होता है उसे उनकी सभी प्रकाशित कृतियों के प्रारंभ में दी गई 'भूमिका' या 'प्रस्तावना' आदि से भी जाना जा सकता है और 'तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परंपरा' आदि इतिहास-ग्रंथों से भी जाना जा सकता है, अतः उसे यहाँ विस्तारभय से नहीं लिखते हैं; तथापि आचार्य समन्तभद्र स्वामी के सम्बन्ध में इतना अवश्य ज्ञातव्य है कि वे वादी, वाग्मी, कवि और एक उच्चकोटि के दार्शनिक एवं तार्किक थे तथा उनके द्वारा अनेक ग्रन्थों की रचना की गई है जिनमें से अनेक तो किसी कारण से नष्ट या अनुपलब्ध हो गये हैं; यथा- गंधहस्ति महाभाष्य, षट्खण्डागम-टीका¹,

1. "स्वामी समन्तभद्र ने भी षट्खण्डागम के प्रथम पाँच खण्डों की अति सुन्दर संस्कृत भाषा में 48000 श्लोक-प्रमाण टीका की रचना की।" - जयधवला, प्रस्तावना, पृष्ठ-9

सिद्धान्त रसायनकल्प¹ आदि; किन्तु निम्नलिखित 5 ग्रंथ हमें आज भी उपलब्ध होते हैं -

1. **आप्तमीमांसा** - इसका विस्तृत परिचय यहाँ आगे लिखा ही जा रहा है।

2. **युक्त्यनुशासन** - इस ग्रन्थ में युक्तिपूर्वक जिनशासन को समीचीन सिद्ध किया गया है। इस पर आचार्य विद्यानन्द स्वामी की संस्कृत टीका 'युक्त्यनुशासनालंकार' भी मिलती है।

3. **स्वयंभूस्तोत्र** - इसमें 143 श्लोकों में 24 तीर्थकरों की दार्शनिक स्तुति की गई है। इस पर आचार्य प्रभाचन्द्र की संस्कृत टीका भी उपलब्ध होती है।

4. **स्तुतिविद्या (जिनशतक)** - इसमें भी कलात्मक ढंग से जिनेन्द्र-स्तुति की गई है। इसका अपर नाम 'जिनशतक' भी है।

5. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार** - इसमें 150 श्लोकों में श्रावकाचार का वर्णन किया गया है। इस पर आचार्य प्रभाचन्द्र की संस्कृत टीका उपलब्ध होती है।

उक्त सभी ग्रन्थ संस्कृत भाषा में काव्यात्मक शैली में लिखे गये हैं। यहाँ इन्हीं में से एक महत्वपूर्ण ग्रंथ 'आप्तमीमांसा' का संक्षिप्त सार साधारण लोगों के समझने के लिए लिखा जाता है। आशा है कि इससे जैनदर्शन एवं जैनन्याय के छात्रों को भी लाभ होगा।

2. 'आप्तमीमांसा' का अर्थ-

'आप्तमीमांसा' पद दो शब्दों से मिलकर बना है -

1. इसकी जानकारी मुझे निवाई वाले पं. राजकुमारजी आयुर्वेदाचार्य ने दी है। उनका कहना है कि यह ग्रन्थ अभी भी बेंगलूर में किसी विद्वान् के पास सुरक्षित है और वे उसे प्राप्त कर प्रकाशित करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

1. आप्त और 2. मीमांसा। दोनों ही शब्द सावधानीपूर्वक समझने योग्य हैं।

‘आप्त’ एक महत्वपूर्ण परिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ होता है- समीचीन वक्ता, प्रामाणिक पुरुष और ‘मीमांसा’ का अर्थ होता है- स्वरूप का विश्लेषण एवं निर्धारण। इस ग्रंथ में समीचीन वक्ता के स्वरूप का विश्लेषण एवं निर्धारण किया गया है, अतः इसका नाम ‘आप्तमीमांसा’ है।

जैनदर्शन के अनुसार ‘आप्त’ में निम्नलिखित तीन गुणों का होना अत्यन्त आवश्यक है। आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है; इनके बिना कोई भी आप्त नहीं हो सकता-

1. वीतरागता (निर्दोषत्व)
2. सर्वज्ञता (निरावरणत्व)
3. हितोपदेशिता (स्याद्वादित्व)

आप्त की अनेक परिभाषाएँ (लक्षण) विभिन्न जैन-ग्रंथों में निम्नानुसार प्राप्त होती हैं-

- (क) ‘आप्तेनोत्सन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत्॥’

-रत्नकरण्डश्रावकाचार, 5

- (ख) ‘यो यत्राविसंवादकः स तत्राप्तः।’

-अष्टशती, 78

- (ग) ‘यो यत्रावञ्चकः स तत्राप्तः।’

-प्रमेयरत्नमाला, 3/95

- (घ) ‘आप्तः प्रत्यक्षप्रमितसकलार्थत्वे सति परम-
हितोपदेशकः।’

-न्यायदीपिका, 3/74

- (ङ) ‘सर्वज्ञं सर्वलोकेशं सर्वदोषविवर्जितम्।
सर्वसत्त्वहितं प्राहुराप्तमाप्तमतोचिताः॥’

-यशस्तिलकचम्पू, 6/52

- (च) ‘ववगदअसेसदोसो सयलगुणप्पा हवे अत्तो।’

-नियमसार, 5

- (छ) ‘आप्तः शंकारहितः। शंका हि सकलमोहरागद्वेषा-
दयः।’

-नियमसार-टीका, 5

- (ज) ‘आप्तिर्हि रागद्वेषमोहानामैकान्तिक आत्यन्तिकश्च क्षयः,
सा येषामस्ति ते खल्वाप्ताः।’

- स्याद्वादमंजरी, 1/18

इसीप्रकार की और भी अनेक परिभाषाएँ यहाँ उद्धृत की जा सकती हैं, परन्तु इन सब परिभाषाओं को आचार्य उमास्वामी ने ‘तत्त्वार्थसूत्र’ के एक ही मंगलाचरण-श्लोक में बड़ी कुशलता से समाहित कर दिया है। यथा-

“मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये॥”

अर्थात् जो मोक्षमार्ग का नेता (हितोपदेशी/स्याद्वादी) है, कर्म-पर्वतों का भेत्ता (वीतराग/निर्दोष) है और विश्वतत्त्वों का ज्ञाता (सर्वज्ञ/निरावरण) है, वही आप्त है और मैं उसे उसके इन्हीं गुणों की प्राप्ति के लिए प्रणाम करता हूँ।

3. मीमांसा और परीक्षा में अन्तर-

प्रश्न- जैनदर्शन में ‘आप्तमीमांसा’ की भाँति एक ‘आप्तपरीक्षा’

1. रचयिता- आचार्य विद्यानन्द स्वामी, सम्पादक- डॉ. दरबारी लाल कोठिया, प्रकाशक -
वीरसेवा मन्दिर, दरियागंज, नई दिल्ली।

नाम का ग्रंथ भी उपलब्ध होता है और वह भी प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में जैनदर्शन के पाठ्यक्रम में निर्धारित है। प्रश्न है कि क्या 'परीक्षा' और 'मीमांसा' में कोई अन्तर है?

उत्तर- हाँ, एक दृष्टि से इन दोनों में अन्तर है। आप्त कौन है- इसका निश्चय करना 'आप्तपरीक्षा' है और आप्त कैसा है - इसका निश्चय करना 'आप्त-मीमांसा' है।

जिसप्रकार अनेक असली-नकली रत्नों में से कौन-सा असली रत्न है- इसे बताने को 'रत्नपरीक्षा' कहते हैं और उसके बाद उस असली रत्न का स्वरूप कैसा-कैसा होता है और कैसा-कैसा नहीं होता है - ऐसा बताने को 'रत्नमीमांसा' कहते हैं। उसीप्रकार कौन आप्त है और कौन नहीं - ऐसा निश्चय करना 'आप्तपरीक्षा' कहलाता है और आप्त ऐसा ही (वीतराग, सर्वज्ञ और स्याद्वादी ही) होता है तथा ऐसा (रागी-द्वेषी, अल्पज्ञ और एकान्तवादी) नहीं होता है - ऐसा निश्चय करने का नाम 'आप्तमीमांसा' है।

इस बात को और अधिक स्पष्टता से समझने के लिए हम 'आप्तपरीक्षा' और 'आप्तमीमांसा' ग्रंथों की विषयवस्तु का भी विहंगावलोकन कर सकते हैं। यथा 'आप्तपरीक्षा' में समझाया गया है कि महेश्वर आप्त नहीं है, सुगत भी आप्त नहीं है, कपिल भी आप्त नहीं है, परमपुरुष भी आप्त नहीं है और अर्हत् ही आप्त है; अतः इस ग्रंथ का नाम 'आप्तपरीक्षा' रखा गया है। किंतु 'आप्तमीमांसा' में सीधे-सीधे यह नहीं समझाया गया है कि महेश्वर, सुगत, कपिल आदि आप्त नहीं हैं और अर्हत् ही आप्त है; अपितु यह समझाया गया है कि जो वीतराग हो, सर्वज्ञ हो और स्याद्वादी हो वही आप्त हो सकता है और जो रागी-द्वेषी हो, अल्पज्ञ हो, एकान्तवादी हो, वह कथमपि आप्त नहीं हो सकता; इसीलिए इस ग्रंथ का नाम 'आप्तमीमांसा' है।

4. आप्त की मीमांसा/परीक्षा की आवश्यकता-

प्रश्न- जैनदर्शन तो कहता है कि व्यक्ति कोई भी हो, हमें तो तत्त्व की परीक्षा करनी चाहिए और जिसके वचन युक्तिसंगत हो उसे ग्रहण कर लेना चाहिए।¹ ऐसी स्थिति में 'आप्त' (समीचीन वक्ता/प्रामाणिक पुरुष) की परीक्षा की क्या आवश्यकता है? सीधे तत्त्व की ही परीक्षा क्यों न कर ली जाए?

उत्तर- आप्त भी तो एक तत्त्व ही है, अतः उसकी परीक्षा भी वास्तव में तत्त्व-परीक्षा ही है। दूसरी बात, सभी लोग सदा सभी तत्त्वों की परीक्षा नहीं कर सकते हैं, संभव ही नहीं है; अतः आप्त की परीक्षा करना आवश्यक है। उसी से हमको सर्व तत्त्वों का ज्ञान-श्रद्धान संभव है।

जिस प्रकार रोज-रोज सभी दुकानों पर जा-जाकर एक-एक सामान की परीक्षा करना संभव नहीं होता, अतः हम किसी प्रकार से परीक्षा करके एक दुकान की प्रामाणिकता का निर्णय कर लेते हैं और फिर रोजाना उसी दुकान से सारा सामान खरीदते रहते हैं। उसी प्रकार प्रत्येक तत्त्व की परीक्षा करना सदा सबके लिए संभव नहीं है, अतः आप्त (प्रामाणिक वक्ता) की परीक्षा करना आवश्यक है।

यही कारण है कि जैनाचार्यों ने 'आप्त' की परीक्षा एवं मीमांसा के सम्बन्ध में आप्तपरीक्षा, आप्तमीमांसा आदि ग्रंथों की रचना की। ये ग्रंथ अत्यन्त प्रयोजनभूत हैं।

5. आप्तमीमांसा की विभिन्न टीकाएँ-

आप्तमीमांसा पर संस्कृत भाषा में मुख्य रूप से तीन टीकाएँ उपलब्ध होती हैं-

1. "पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥" - हरिभद्रसूरि, लोकतत्त्वनिर्णय, 1/38

1. अष्टशती, आचार्य अकलंक, सातवीं शती।

2. अष्टसहस्री (आप्तमीमांसासालंकृति), आचार्य विद्यानन्दि, आठवीं शती।

3. आप्तमीमांसावृत्ति, आचार्य वसुनन्दि, बारहवीं शती।

जो सज्जन 'आप्तमीमांसा' का गूढ़-गंभीर अध्ययन करना चाहते हैं अथवा 'आप्तमीमांसा' की गंभीरता का अनुभव करना चाहते हैं, उन्हें इन ग्रन्थों का अध्ययन अवश्य करना चाहिए। ये तीनों संस्कृत-टीकाएँ जैन वाङ्मय की अनमोल विरासत हैं।

इनके अतिरिक्त पं. जयचंद छाबड़ा (उन्नीसवीं शती) ने भी देवागमस्तोत्र-वचनिका लिखी है जो इस ग्रन्थ को समझने के लिए अत्यंत उपयोगी है।

प्रो. उदयचन्द जैन सर्वदर्शनाचार्य ने भी इसकी एक हिंदी-टीका 'आप्तमीमांसा तत्त्वदीपिका' नाम से लिखी है जो श्री गणेश वर्णी शोध संस्थान वाराणसी से प्रकाशित हुई है। वह भी हिंदी-पाठकों के लिए अत्यंत लाभदायक टीका है। जिज्ञासुओं को उसका भी अध्ययन करना चाहिए।

एक सरल-सुबोध एवं संक्षिप्त हिन्दी-टीका पं. जुगल किशोर 'मुख्तार' की भी उपलब्ध होती है जो वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली से प्रकाशित हुई है।

इसीप्रकार आर्यिका ज्ञानमती माताजी ने भी देवागमस्तोत्र का हिन्दी-पद्यानुवाद किया है जो हस्तिनापुर से प्रकाशित हुआ है।

जो लोग अंग्रेजी भाषा में 'आप्तमीमांसा' का अध्ययन करना चाहते हैं, उनके लिए भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली से अंग्रेजी में भी 'आप्तमीमांसा' प्रकाशित की गई है।

6. आप्तमीमांसा की विषयवस्तु-

'आप्तमीमांसा' में कुल 114 कारिकाएँ हैं, जो दस परिच्छेदों में विभाजित हैं। सभी परिच्छेदों की विषय-वस्तु संक्षेप में इस प्रकार है -

पहला परिच्छेद (कारिका 1 से 23 तक)

इस परिच्छेद में सर्वप्रथम कहा गया है कि आप्त में अन्य कोई कितने ही चामत्कारिक गुण (देवागम-नभोयान-चामरादि) हों, पर उनसे कुछ नहीं होता, उनसे उसे 'आप्त' नहीं माना जा सकता, आप्त को तो केवल वीतरागता, सर्वज्ञता और स्याद्वादिता के कारण ही 'आप्त' माना जा सकता है।

तथा यह वीतरागता और सर्वज्ञता कोई असंभव बात नहीं है, अपितु संभव है, युक्तिसिद्ध है। (सामान्य सर्वज्ञसिद्धि)

पुनश्च, ऐसा वीतरागी एवं सर्वज्ञ अन्य कोई कपिलादि नहीं है, किंतु अरिहंत ही है, क्योंकि वही दोषावरणों से रहित है। (विशेष सर्वज्ञसिद्धि)

कपिलादि वीतराग-सर्वज्ञ नहीं हैं और अरिहंत ही वीतराग-सर्वज्ञ हैं - इसका ठोस प्रमाण यह है कि कपिलादि एकान्तवादी हैं और अरिहंत स्याद्वादी।

जो एकान्तवादी होता है वह वीतराग-सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होता, क्योंकि उसके वचन युक्ति एवं शास्त्र के विरुद्ध सिद्ध होते हैं। तथा जो स्याद्वादी होता है वह वीतराग (निर्दोष) एवं सर्वज्ञ (निरावरण) सिद्ध होता है, क्योंकि उसके वचन युक्ति एवं शास्त्र के विरुद्ध नहीं होते, युक्ति एवं शास्त्र से खंडित नहीं होते।¹

1. स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।

अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥6॥

इसप्रकार आप्त (अरिहंत) में निर्दोषत्व (वीतरागता), निरावरणत्व (सर्वज्ञत्व) एवं स्याद्वादित्व -ये तीन गुण सिद्ध किये; किंतु इन तीनों में भी स्याद्वादित्व गुण को आप्त का विशेषतः मूलाधारभूत गुण सिद्ध किया; अतः अब पूरे ग्रंथ में इसी बात को अनेक प्रकार से विस्तारपूर्वक सिद्ध किया जाएगा कि एकान्तवाद किस प्रकार मिथ्या (युक्तिशास्त्रविरोधी) सिद्ध होता है और स्याद्वाद किस प्रकार समीचीन (युक्तिशास्त्राविरोधी) सिद्ध होता है।

विभिन्न एकान्तवादों के निराकरण (खण्डन) और तत्संबंधी स्याद्वाद की स्थापना (मण्डन) के इस क्रम में सर्वप्रथम भावाभाव (सत्-असत्) सम्बन्धी एकान्तों का निराकरण करते हुए स्याद्वाद की स्थापना की गई है। यथा-

भावैकान्त में दोष-

भावैकान्त (सदेकान्त) को स्वीकार करने में निम्नलिखित दोष आते हैं¹ -

1) प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव- इन चार अभावों का सर्वथा अभाव हो जाएगा। और ऐसा होने पर अनेक दोष उपस्थित हो जाएँगे।

2) प्रागभाव को न मानने पर कार्यद्रव्य अनादि सिद्ध हो जाएगा।

1. भावैकान्ते पदार्थानामभावानामपहनवात्।

सर्वात्मकमनाद्यन्तमस्वरूपमतावकम् ॥ 9॥

कार्यद्रव्यमनादि स्यात् प्रागभावस्य निहनवे।

प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत् ॥10॥

सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे।

अन्यत्र समवाये न व्यपदिश्येत् सर्वथा ॥11॥

3) प्रध्वंसाभाव को न मानने पर कार्यद्रव्य अनन्त सिद्ध हो जाएगा।

4) अन्योन्याभाव (इतरेतराभाव/अन्यापोह) को न मानने पर सभी सर्वात्मक हो जाएगा।

5) अत्यन्ताभाव को न मानने पर दो द्रव्य दो नहीं रहेंगे, चेतन अचेतन और अचेतन चेतन हो जाएगा।

अभावैकान्त में दोष-

अभावैकान्त (असदेकान्त) को स्वीकार करने में निम्नलिखित दोष हैं¹ -

1) ज्ञान और वाक्य -इन दोनों का भी अभाव ही सिद्ध होगा। और तब, समझने-समझाने की यह सब प्रक्रिया ही सिद्ध नहीं होगी। कौन किस प्रकार स्वपक्षसिद्धि और परपक्षदूषण कर सकेगा?

उभयैकान्त में दोष-

उभयैकान्त में निम्नलिखित दोष हैं-

सर्वथा भाव और सर्वथा अभाव -इन दोनों में परस्पर विरोध है, अतः दोनों को निरपेक्ष रूप से एक साथ कैसे स्वीकार किया जा सकता है?²

अवाच्यैकान्त में दोष-

अवाच्यैकान्त में निम्नलिखित दोष हैं-

यदि वस्तु सर्वथा अवाच्य ही हो तो फिर उसे 'अवाच्य' शब्द से भी नहीं कहा जा सकेगा।

1. अभावैकान्तपक्षेऽपि भावापहनवादिनाम्।

बोधवाक्यं प्रमाणं न केन साधनदूषणम् ॥12॥

2. विरोधान्नोभयैकान्त्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम्।

अवाच्यैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥13॥

स्याद्वाद की स्थापना-

प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टय (स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव) की अपेक्षा सत् है, परचतुष्टय (परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल, परभाव) की अपेक्षा असत् है, क्रमशः दोनों की अपेक्षा उभय है और युगपद् दोनों की अपेक्षा अवाच्य है। तथा जिस प्रकार यहाँ चार भंग घटित किये हैं, उसी प्रकार अपनी-अपनी अलग-अलग विवक्षाओं से शेष तीन भंग (सदवाच्य, असदवाच्य, सदसदवाच्य) भी घटित कर लेना चाहिए।

दरअसल, भाव (सत्/अस्तित्व/विधि) और अभाव (असत्/नास्तित्व/निषेध) -ये दोनों धर्म अविनाभावी हैं, एक के बिना दूसरा रह नहीं सकता। अस्तित्व-नास्तित्वरूप उभय धर्मों वाली वस्तु ही शब्द का विषय होती है तथा भाव-अभाव दोनों रूप वस्तु ही अर्थक्रिया कर सकती है, एकान्त भाव या एकान्त अभावरूप वस्तु अर्थक्रिया नहीं कर सकती।

वस्तु में अनन्त धर्म होते हैं, जब एक को मुख्य किया जाता है, तब अन्य धर्म गौण हो जाते हैं - यही स्याद्वाद-व्यवस्था है।

जिस प्रकार यहाँ भावाभावसम्बन्धी एकान्तों का निराकरण करके स्याद्वाद की स्थापना की गई है, उसी प्रकार द्वैताद्वैत, नित्यानित्य, एकानेक आदि से सम्बन्धित एकान्तों का भी निराकरण करके स्याद्वाद की स्थापना करनी चाहिए, अतः अब आगे के परिच्छेदों में उसे ही समझाने का प्रयत्न किया जाएगा।

दूसरा परिच्छेद (कारिका 24 से 36 तक)

जिस प्रकार पहले परिच्छेद में भावाभाव-सम्बन्धी एकान्त-चतुष्टय का निराकरण करके स्याद्वाद की स्थापना की गई है, उसीप्रकार इस दूसरे परिच्छेद में द्वैताद्वैत-सम्बन्धी एकान्त-चतुष्टय का निराकरण करके स्याद्वाद की स्थापना की गई है। यथा-

अद्वैतैकान्त में दोष-

अद्वैतैकान्त में निम्नलिखित दोष आते हैं-

1) कारकभेद, क्रिया-भेद, पुण्य-पापरूप कर्मद्वैत, सुख-दुःखरूप फलद्वैत, इहलोक-परलोक रूप लोकद्वैत, विद्या-अविद्यारूप द्वैत, बन्ध-मोक्षरूप द्वैत- यह सब कुछ भी सिद्ध नहीं होगा।

2) यदि हेतु से अद्वैत की सिद्धि की जाए तो हेतु और साध्य -ये द्वैत सिद्ध हो जाएगा और यदि हेतु के बिना ही अद्वैत की सिद्धि की जाए तो यह अनुचित एवं अविश्वसनीय होगा, क्योंकि फिर तो कोई भी कुछ भी हेतु-विहीन कहेगा और उसे हमें मान्य करना होगा।

3) द्वैत के बिना तो 'अद्वैत' शब्द ही नहीं बनता, अतः द्वैत के अभाव में अद्वैत की सिद्धि नहीं हो सकती।¹

द्वैतैकान्त में दोष-

द्वैतैकान्त में निम्नलिखित दोष आते हैं-

1) द्रव्य और उसके अनन्त गुण-पर्याय सब पृथक्-पृथक् सिद्ध होंगे, उनमें किसी प्रकार का कोई अभेद सम्बन्ध नहीं रहेगा।

2) यदि कहा जाए कि वे पृथक्त्व गुण के कारण पृथक्-पृथक् नहीं होंगे तो पृथक्त्व गुण भी तो द्वैतैकान्त मानने पर द्रव्य से पृथक् ही सिद्ध हो जाएगा। और यदि पृथक् नहीं माना जाएगा तो द्रव्य और उस पृथक्त्व गुण में तो अद्वैत सिद्ध हो जाएगा, द्वैतैकान्त कहाँ बचेगा?

3) द्वैतैकान्त में सन्तान, साधर्म्य, समुदाय, प्रेत्यभाव आदि कुछ भी सिद्ध नहीं होगा।

1. अद्वैतं न विना द्वैतादहेतुरिव हेतुना।

संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादूते क्वचित्॥27॥

4) ज्ञान और ज्ञेय - दोनों में सत् की अपेक्षा अद्वैत (एकत्व) है। यदि उसे न माना जाए तो दोनों असत् सिद्ध होंगे।

उभयैकान्त और अवाच्यैकान्त में दोष-

उभयैकान्त और अवाच्यैकान्त में निम्नलिखित दोष है-

परस्पर विरोध होने के कारण उभयैकान्त को स्वीकार नहीं किया जा सकता तथा अवाच्यैकान्त को भी इसलिए स्वीकार नहीं किया जा सकता कि तब उसे 'अवाच्य' शब्द से भी नहीं कहा जा सकेगा?

स्याद्वाद की स्थापना-

अभेद की विवक्षा होने पर सत् सामान्य की अपेक्षा सभी पदार्थ एक हैं, अतः अद्वैत है और भेद की विवक्षा होने पर द्रव्यादि के भेद सभी पदार्थ पृथक्-पृथक् हैं, अतः द्वैत है। वस्तु अनन्तधर्मात्मक है, उसमें भेद और अभेद दोनों ही वास्तविक हैं, काल्पनिक नहीं है, क्योंकि वे प्रमाण के विषय होते हैं।

भेद और अभेद दोनों की क्रमशः विवक्षा होने पर द्वैताद्वैत है और दोनों की युगपद् विवक्षा होने पर अवाच्य है।

तथा शेष तीन भंग भी इसीप्रकार से घटित कर लेना चाहिए।

तीसरा परिच्छेद (कारिका 37 से 60 तक)

तीसरे परिच्छेद में नित्यानित्य-सम्बन्धी एकान्त-चतुष्टय का निराकरण करके स्याद्वाद की स्थापना की गई है।

यथा -

नित्यत्वैकान्त में दोष-

नित्यत्वैकान्त में निम्नलिखित दोष है-

1) समस्त कारकों का अभाव सिद्ध होगा, किसी प्रकार की कोई क्रिया नहीं घटित होगी। सब कुछ सदा शाश्वत कूटस्थ, निष्क्रिय सिद्ध होगा।

2) प्रमाण एवं प्रमाण-फल की व्यवस्था भी नहीं बन सकेगी।

3) किसी भी कार्य की उत्पत्ति सिद्ध नहीं होगी।

4) पुण्य-पाप, जन्म-जन्मान्तर, कर्म-कर्मफल एवं बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था नहीं बन सकेगी।

अनित्यत्वैकान्त में दोष-

अनित्यत्वैकान्त (क्षणिकत्वैकान्त) में निम्नलिखित दोष हैं -

1) इसमें भी जन्म-जन्मान्तर, कर्म-कर्मफल, बन्ध-मोक्ष एवं प्रमाण-प्रमाणफल आदि की व्यवस्था नहीं बन सकती।

2) यदि कार्य सर्वथा असत् है तो आकाशकुसुम की तरह उत्पन्न ही नहीं होगा अथवा उपादान कारण का कोई नियम नहीं रहेगा।

3) कृतप्रणाश, अकृताभ्यागम आदि दोष उत्पन्न होते हैं।

4) हिंसक को बन्ध नहीं होगा और बन्धन-बद्ध हिंसक सिद्ध नहीं होगा।

5) इत्यादि।

उभयैकान्त और अवाच्यैकान्त में दोष-

उभयैकान्त और अवाच्यैकान्त में निम्नलिखित दोष है -

परस्पर विरोध होने के कारण उभयैकान्त को स्वीकार नहीं किया जा सकता तथा अवाच्यैकान्त को भी इसलिए स्वीकार नहीं किया जा सकता कि तब उसे 'अवाच्य' शब्द से भी नहीं कहा जा सकेगा?

स्याद्वाद की स्थापना-

द्रव्य-अपेक्षा वस्तु नित्य है, पर्याय-अपेक्षा अनित्य है, क्रमशः दोनों की अपेक्षा उभय (नित्यानित्य) है और युगपद् दोनों की अपेक्षा अवक्तव्य है। तथा शेष तीन भंग भी इसीप्रकार से घटित कर लेना चाहिए।

चौथा परिच्छेद (कारिका 61 से 72 तक)

इस परिच्छेद में भेदाभेद-सम्बन्धी एकान्त-चतुष्टय का निराकरण करके स्याद्वाद की स्थापना की गई है। यथा-

भेदैकान्त में दोष-

भेदैकान्त (अन्यत्वैकान्त) में निम्नलिखित दोष हैं -

1) यदि कारण-कार्य, गुण-गुणी, सामान्य-सामान्यवान् में सर्वथा भेद माना जाए तो उनमें कोई स्व-स्वामी आदि सम्बन्ध सिद्ध नहीं होगा, सब सर्वथा पृथक्-पृथक् सिद्ध होंगे।

2) उनमें देशभेद और कालभेद भी स्वीकार करना पड़ेगा, उनमें अभिन्नदेशता और अभिन्नकालता भी नहीं बन सकेगी।

3) समवाय से भी उनमें आश्रय-आश्रयी सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो पाएगा।

अभेदैकान्त में दोष-

अभेदैकान्त (अनन्यत्वैकान्त) में निम्नलिखित दोष हैं-

1) कार्य और कारण -इन दो में से एक का ही अस्तित्व बचेगा, उनमें द्वित्वसंख्या भी नहीं बनेगी।

उभयैकान्त और अवाच्यैकान्त में दोष-

उभयैकान्त और अवाच्यैकान्त में निम्नलिखित दोष हैं-

परस्पर विरोध होने के कारण उभयैकान्त को स्वीकार नहीं

किया जा सकता तथा अवाच्यैकान्त को भी इसलिए स्वीकार नहीं किया जा सकता कि तब उसे 'अवाच्य' शब्द से भी नहीं कहा जा सकेगा?

स्याद्वाद की स्थापना-

द्रव्य और पर्याय (गुण-पर्याय) भिन्न-भिन्न या पृथक्-पृथक् नहीं रहते, एक साथ ही रहते हैं, अतः उनमें ऐक्य (अभेद) है और संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदि का भेद है, अतः उनमें भेद है, नानात्व है। क्रमशः दोनों की अपेक्षा भेदाभेदत्व है और युगपद् दोनों की अपेक्षा अवक्तव्यत्व है। तथा शेष तीन भंग भी इसीप्रकार घटित कर लेना चाहिए।

पाँचवाँ परिच्छेद (कारिका 73 से 75 तक)

इस परिच्छेद में मात्र तीन कारिकाएँ हैं, परन्तु उनमें एक बड़े ही महत्वपूर्ण विषय को स्पष्ट किया गया है। कहा गया है कि वस्तु-स्वरूप को सर्वथा आपेक्षिक (सापेक्ष) और सर्वथा अनापेक्षिक (निरपेक्ष) भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसमें भी अनेक दोष आते हैं। यथा-

यदि धर्म, धर्मी आदि को सर्वथा सापेक्ष माना जाए तो उनकी समीचीन व्यवस्था सिद्ध नहीं होती। तथा यदि सर्वथा निरपेक्ष माना जाए तो उनमें सामान्य-विशेषभाव नहीं बनता।

इसीप्रकार पूर्वोक्त रीति से उभयैकान्त एवं अवाच्यैकान्त को भी मिथ्या समझ लेना चाहिए।

स्याद्वाद-व्यवस्था यह है कि धर्म-धर्मी का अविनाभाव ही एक-दूसरे की अपेक्षा से सिद्ध होता है, स्वरूप नहीं। स्वरूप तो अपने षट् कारकों से स्वतः सिद्ध है।

यहाँ भी पूर्वोक्त विधि से सप्तभंग घटित कर लेना चाहिए।

छठा परिच्छेद (कारिका 76 से 78 तक)

इस परिच्छेद में हेतु और आगम के एकान्तवादियों का निराकरण करके स्याद्वाद की स्थापना की गई है। कहा गया है कि वस्तु की सिद्धि सर्वथा हेतु से ही अथवा सर्वथा आगम से ही मानना भी मिथ्या एकान्त है, क्योंकि ऐसा मानने पर अनेक दोष उपस्थित होते हैं। यथा -

वस्तु की सिद्धि यदि सर्वथा हेतु से ही मानी जाए तो प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों से उसका ज्ञान नहीं हो सकेगा, वे व्यर्थ सिद्ध होंगे। तथा यदि सर्वथा आगम से ही वस्तु की सिद्धि मानी जाए तो परस्पर विरुद्ध मत भी समीचीन सिद्ध होंगे।

एतत्सम्बन्धी उभयैकान्त और अवाच्यैकान्त को भी पूर्वोक्त विधि से मिथ्या समझ लेना चाहिए।

स्याद्वाद-व्यवस्था यह है कि जहाँ वक्ता आप्त नहीं हो वहाँ हेतु से साध्य की सिद्धि माननी/करनी चाहिए और जहाँ वक्ता आप्त हो वहाँ आगम से साध्य की सिद्धि माननी/करनी चाहिए।

यहाँ भी पूर्वोक्त विधि से सप्तभंग घटित कर लेना चाहिए।

सातवाँ परिच्छेद (कारिका 79 से 87 तक)

इस परिच्छेद में अन्तरंगार्थैकान्तवादी (ज्ञानाद्वैतवादी) बहिरंगार्थैकान्तवादी, उभयैकान्तवादी और अवाच्यैकान्तवादी- इन चारों का निराकरण करके स्याद्वाद की स्थापना की गई है। यथा-

यदि अन्तरंगार्थ (ज्ञानमात्र) ही तत्त्व है तो सभी बुद्धि और वचन मिथ्या सिद्ध होंगे, प्रमाणाभास सिद्ध होंगे। तथा प्रमाणाभास भी तो प्रमाण के बिना कैसे बनेगा?

अनुमान से भी विज्ञप्ति मात्र को तत्त्व सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसमें प्रतिज्ञादोष एवं हेतुदोष- दोनों उपस्थित होंगे।

केवल बाह्यार्थ की सत्ता मानने पर प्रमाणाभास का लोप हो जाएगा और ऐसी स्थिति में विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक सभी मतों की सिद्धि हो जाएगी।

उभयैकान्त एवं अवाच्यैकान्त को भी पूर्वोक्त प्रकार से मिथ्या समझ लेना चाहिए।

स्याद्वाद-व्यवस्था यह है कि स्वसंवेदन की अपेक्षा कोई ज्ञान प्रमाणाभास नहीं है और बाह्य अर्थ की अपेक्षा ज्ञान में प्रमाण और प्रमाणाभास -दोनों की व्यवस्था होती है।

अर्थ तीन प्रकार का है- बुद्धिरूप, शब्दरूप और अर्थरूप। इनमें से बाह्य अर्थ के होने पर ही बुद्धि और शब्द में प्रमाणता होती है, बाह्य अर्थ के अभाव में नहीं। बाह्य अर्थ के अभाव में बुद्धि और शब्द अप्रमाण या प्रमाणाभास माने जाएँगे।

यहाँ भी यथाविधि सप्तभंग घटित कर लेना चाहिए।

आठवाँ परिच्छेद (कारिका 88 से 91 तक)

इस परिच्छेद में दैव और पौरुष (पुरुषार्थ) सम्बन्धी एकान्तों का निराकरण करके स्याद्वाद की स्थापना की गई है। यथा-

यदि सर्वथा दैव से ही अर्थ की सिद्धि मानी जाए तो दैव की सिद्धि भी तो पौरुष से ही होती है, वह कैसे होगी? तथा यदि दैव से ही दैव की सिद्धि मानी जाए तो मोक्ष का अभाव हो जाएगा। मोक्ष के लिए पुरुषार्थ करना निष्फल होगा।

यदि सर्वथा पुरुषार्थ से ही अर्थ की सिद्धि मानी जाए तो पुरुषार्थ भी तो दैव से होता है, वह कैसे होगा? तथा यदि पुरुषार्थ से ही पुरुषार्थ की सिद्धि मानी जाए तो सभी प्राणियों का पुरुषार्थ सफल होना चाहिए। क्यों नहीं होता?

एतत्सम्बन्धी उभयैकान्त और अवाच्यैकान्त को भी पूर्वोक्त रीति से मिथ्या समझ लेना चाहिए।

स्याद्वाद-व्यवस्था यह है कि जहाँ इष्टानिष्ट अर्थ की प्राप्ति बुद्धिव्यापार के बिना होती है वहाँ उसे दैव से हुआ कहा जाता है और जहाँ बुद्धिव्यापार पूर्वक होती है वहाँ उसे पुरुषार्थ से हुआ कहा जाता है।

यहाँ भी पूर्वोक्त विधि से सप्त भंग घटित कर लेना चाहिए।

नौवाँ परिच्छेद (कारिका 92 से 95 तक)

इस परिच्छेद में पुण्य और पाप के बन्ध-विषयक एकान्तों का निराकरण करके स्याद्वाद की स्थापना की गई है। यथा-

यदि सर्वथा ऐसा माना जाए कि परदुःखहेतुत्व से पापबन्ध और परसुखहेतुत्व से पुण्यबन्ध है तो अचेतन पदार्थ और कषाय-रहित जीव भी बन्ध को प्राप्त होंगे, क्योंकि वे भी पर के दुःख-सुख में हेतु (निमित्त) होते हैं। किन्तु उन्हें बन्ध नहीं होता है।

तथा यदि सर्वथा ऐसा माना जाए कि स्व को दुःख देने से पुण्यबन्ध और सुख देने से पापबन्ध होता है तो वीतराग एवं विद्वान् मुनि भी बन्ध को प्राप्त होंगे।

एतत्सम्बन्धी उभयैकान्त और अवाच्यैकान्त को भी पूर्वोक्त रीति से मिथ्या समझ लेना चाहिए।

स्याद्वाद-व्यवस्था यह है कि स्व या पर में होने वाला सुख-दुःख यदि विशुद्धि और संक्लेश का अंग है तो उससे क्रमशः पुण्यबन्ध और पापबन्ध होता है, किन्तु यदि वह विशुद्धि या संक्लेश किसी का भी अंग नहीं है तो वह बन्ध का कारण नहीं होता।

दसवाँ परिच्छेद (कारिका 96 से 114 तक)

इस परिच्छेद में सर्वप्रथम 4 कारिकाओं में बन्ध-मोक्ष

के कारणों का स्याद्वाद-शैली से निर्णय किया गया है, उसके बाद 14 कारिकाओं में कतिपय विशेष अज्ञानों का निराकरण करके समीचीन तत्त्वज्ञान की स्थापना की गई है और अन्तिम 1 कारिका में उपसंहार है।

बन्ध-मोक्ष के कारणों के सम्बन्ध में दार्शनिक जगत में दो प्रकार के एकान्त इसप्रकार प्रचलित हैं- एक कहता है- अज्ञान से बन्ध होता है (सांख्य) और दूसरा कहता है- अल्पज्ञान से मोक्ष होता है (बौद्ध)। यहाँ इन्हीं दोनों प्रकार के एकान्तों का निराकरण करके स्याद्वाद की स्थापना की गई है।

प्रथम एकान्त में दोष-

यदि सर्वथा ऐसा माना जाए कि अज्ञान से बन्ध होता है तो ज्ञेय तो अनन्त हैं, उनका अज्ञान केवलज्ञान से पूर्व तक सबके रहता ही है। यदि उस अज्ञान से बन्ध होगा तो कभी भी कोई केवली नहीं हो सकेगा।

द्वितीय एकान्त में दोष-

यदि सर्वथा ऐसा माना जाए कि ज्ञान से मोक्ष होता है तो अल्पज्ञान से ही मोक्ष हो जाना चाहिए। अथवा दूसरी आपत्ति यह है कि फिर अज्ञान से बन्ध भी मानना पड़ेगा और यदि अज्ञान से बन्ध माना जाएगा तो पुनः वही दोष उपस्थित होगा जो प्रथम एकान्त में हुआ था अर्थात् बहुत अज्ञान से बहुत बन्ध भी मानना पड़ेगा।

ज्ञान और अज्ञान जिस दशा में एक साथ रहते हैं वहाँ क्या होगा- बन्ध या मोक्ष? ज्ञान से मोक्ष मानोगे तो वह तो अल्प है, अज्ञान ही बहुत है, अतः बहुत अज्ञान से बहुत बन्ध भी मानना पड़ेगा। और फिर कभी कोई मुक्त नहीं हो सकेगा।

उभयैकान्त एवं अवाच्यैकान्त में दोष-

उक्त दोनों एकान्तों के जोड़रूप उभयैकान्त को और तत्सम्बन्धी अवाच्यैकान्त को भी पूर्वप्रतिपादित विधि से मिथ्या समझ लेना चाहिए।

स्याद्वाद की स्थापना-

स्याद्वाद की समीचीन व्यवस्था यह है कि मोह-सहित अज्ञान से बन्ध होता है और मोह-रहित अज्ञान से बन्ध नहीं होता है। इसीप्रकार मोहरहित अल्पज्ञान से मोक्ष होता है, किन्तु मोह-सहित अल्पज्ञान से मोक्ष नहीं होता है।

इसप्रकार विविध एकान्तों का निराकरण करके स्याद्वाद की स्थापना की गई। अब कुछ कारिकाओं में विशेष अज्ञानों (मिथ्या मान्यताओं) का निराकरण करते हुए सम्यक् तत्त्वज्ञान की स्थापना करते हैं। यथा -

कारिका विषयवस्तु

- 99 इच्छादि नाना कार्यों की उत्पत्ति अपने-अपने कर्मानुसार होती है, उन्हें ईश्वर नहीं करता।
- 100 जीवों में स्वाभाविक ही भव्याभव्यत्व शक्ति पाई जाती है।
- 101 युगपत् सर्वभासी ज्ञान प्रमाण है और क्रमभावी सम्यग्ज्ञान नय है।
- 102 केवलज्ञान का फल उपेक्षा है और अन्य ज्ञानों का फल ग्रहण-त्याग। सामान्यतः तो अज्ञाननाश ही सर्वज्ञानों का फल है।
- 103 'स्याद्वाद' में 'स्यात्' पद एक धर्म का वाचक है, अनेकान्त का द्योतक है।

- 104 स्याद्वाद एकान्त का निषेधक और सप्तभंग-नय-सापेक्ष होता है।
- 105 स्याद्वाद (श्रुतज्ञान) और केवलज्ञान -दोनों ही सर्वतत्त्वप्रकाशक हैं, दोनों में मात्र प्रत्यक्ष-परोक्ष का ही अन्तर है।
- 106 हेतु और नय का स्वरूप।
- 107 द्रव्य का स्वरूप। तीनों कालों को विषय करने वाले समस्त नयों और उपनयों के विषयभूत अनन्त धर्मों से जिसका तादात्म्य सम्बन्ध है, उसे द्रव्य कहते हैं।
- 108 निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं और सापेक्ष नय सम्यक्।
- 109 विधिवाक्य भी विधि एवं निषेध -दोनों अर्थों का कथन करता है और निषेधवाक्य भी।
- 110 विधिवाक्य ही वस्तुज्ञान कराता है - ऐसा मानना मिथ्या है, एकान्त है।
- 111 निषेधवाक्य ही वस्तुज्ञान कराता है - ऐसा मानना मिथ्या है, एकान्त है।
- 112 अन्यापोह-निराकरण।
- 113 विधि-निषेध अविनाभावी होने से स्याद्वाद की सिद्धि होती है।
- 114 आत्मकल्याणाभिलाषी जीवों को सम्यक्-मिथ्या उपदेश में भेदज्ञान कराने के लिए यह आप्तमीमांसा लिखी है।

7. विविध एकान्तों का संक्षिप्त परिचय-

'आप्तमीमांसा' में विविध एकान्तों का निराकरण करते हुए

अनेकान्तवाद/स्याद्वाद की स्थापना की गई है, अतः उन एकान्तवादों को भी भलीभाँति समझना आवश्यक है। यद्यपि ऊपर आप्तमीमांसा की विषयवस्तु को पढ़ने-समझने के बाद इन एकान्तों को पृथक् से समझाने की आवश्यकता नहीं रह जाती है, तथापि विस्तार-रुचि शिष्यों के लाभार्थ कुछ लिखा जाता है।

उल्लेखनीय है कि यहाँ विभिन्न एकान्तवादों का सम्बन्ध पृथक्-पृथक् दर्शनों के साथ बताया गया है, वह स्थूल-अपेक्षा से ही समझना चाहिए। अन्यथा वैसे तो एकान्त असंख्य-अनन्त प्रकार के हो सकते हैं।

इसप्रकार एकान्तवादों की संख्या यद्यपि अनन्त है, तथापि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के विधि-निषेध से आठ एकान्त विशेष रूप से बनते हैं। ऐसा लगता है कि आप्तमीमांसा के प्रारम्भिक चार परिच्छेदों में उन्हीं 8 एकान्तों का निराकरण किया गया है, अतः यहाँ उन्हीं आठ एकान्तों का संक्षिप्त परिचय लिखा जा रहा है-

- i. द्रव्य-अपेक्षा - भावैकान्त, अभावैकान्त।
- ii. क्षेत्र-अपेक्षा - भेदैकान्त, अभेदैकान्त।
- iii. काल-अपेक्षा - नित्यैकान्त, अनित्यैकान्त।
- iv. भाव-अपेक्षा - द्वैतैकान्त, अद्वैतैकान्त

1. भावैकान्त- इसका दूसरा नाम सदेकान्त भी है। इसका मानना है कि इस जगत् में सदा सर्वत्र भाव/सत् ही है, अभाव/असत् कहीं कुछ भी नहीं है, अतः अभाव को कथमपि (किसी भी अपेक्षा से) स्वीकार नहीं करना चाहिए। भावैकान्तवादी दर्शन मुख्यतः सांख्य है।

2. अभावैकान्त- इसका दूसरा नाम असदेकान्त भी है। यह भावैकान्त/सदेकान्त का एकदम उलटा है। इसका मानना है कि इस जगत् में सदा सर्वत्र अभाव/असत् ही है, भाव/सत् तो कुछ भी नहीं

है, अतः भाव को कथमपि (किसी भी अपेक्षा से) स्वीकार नहीं करना चाहिए। अभावैकान्तवादी दर्शन मुख्यतः वेदान्त है। क्योंकि वह ब्रह्मातिरिक्त सबका सर्वथा अभाव मानता है।

3. भेदैकान्त- इसका दूसरा नाम अन्यत्वैकान्त या पृथक्त्वैकान्त भी है। इसका मानना है कि सब कुछ सर्वथा भिन्न-भिन्न या पृथक्-पृथक् ही है, चाहे वे वस्तु के अपने गुण-पर्याय ही हों; उन्हें किसी भी अपेक्षा से एक, अभिन्न या अपृथक् नहीं माना जा सकता। भेदैकान्तवादी मुख्यतः वैशेषिक दर्शन है।

4. अभेदैकान्त- इसका दूसरा नाम अनन्यत्वैकान्त या अपृथक्त्वैकान्त भी है। यह भेदैकान्त का एकदम उलटा है। इसका मानना है कि सब कुछ सर्वथा अभिन्न या अपृथक् रूप ही है, उन्हें किसी भी अपेक्षा से भिन्न-भिन्न या पृथक्-पृथक् नहीं कहा जा सकता। अभेदैकान्तवादी मुख्यतः सांख्य एवं वेदान्त दर्शन प्रतीत होते हैं।

5. नित्यैकान्त- इसका मानना है कि सब कुछ सर्वथा नित्य, कूटस्थ, शाश्वत या अनाद्यनिधन ही है; कुछ भी किसी भी अपेक्षा से अनित्य या परिणमनशील भी नहीं है। नित्यैकान्तवादी मुख्यतः सांख्य दर्शन है।

6. अनित्यैकान्त- इसका दूसरा नाम क्षणिकैकान्त भी है। यह नित्यैकान्त का एकदम उलटा है। इसका मानना है कि सब कुछ सर्वथा अनित्य या क्षणिक ही है, कुछ भी किसी भी अपेक्षा से नित्य नहीं कहा जा सकता। अनित्यैकान्तवादी मुख्यतः बौद्ध दर्शन है।

7. अद्वैतैकान्त- इसका मानना है कि जगत् में सर्वथा एक ही तत्त्व है; उसे किसी भी प्रकार से दो रूप नहीं कहा/माना जा सकता। अद्वैतैकान्तवादी मुख्यतः वेदान्त दर्शन है।

8. द्वैतैकान्त - यह अद्वैतैकान्त का एकदम उलटा है। इसका मानना है कि तत्त्व को किसी भी अपेक्षा से अद्वैत रूप नहीं कहा जा सकता, वह तो सर्वथा द्वैत रूप ही है। द्वैतैकान्तवादी मुख्यतः वैशेषिक एवं बौद्ध दर्शन हैं।

जैनदर्शन अनेकान्तवादी है। वह किसी भी एकान्त को स्वीकार नहीं करता, क्योंकि उसमें अनेकानेक दोष उपस्थित होते हैं, जैसा कि ऊपर विषयवस्तु लिखते समय बताया जा चुका है।

8. आप्तमीमांसा-विषयक अनुश्रुतियाँ-

आप्तमीमांसा के विषय में अनेक अनुश्रुतियाँ या किंवदन्तियाँ भी प्रचलित हैं। यद्यपि उनके सत्य होने में भी सन्देह नहीं प्रतीत होता, तथापि उन्हें सप्रमाण इदमित्थं के रूप में नहीं प्रस्तुत किया जा सकता, अतः उन्हें यहाँ लिखते हैं।

ये अनुश्रुतियाँ, हो सकता है, अनेकानेक हों, पर यहाँ मैं दो ही का विशेष उल्लेख करना चाहता हूँ। यथा-

1. आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र की विस्तृत टीका के रूप में एक 'गन्धहस्तिमहाभाष्य' नामक विशाल ग्रन्थ की रचना की थी, जो आज हमें उपलब्ध नहीं होता। परन्तु कहा जाता है कि यह जो 114 श्लोक-प्रमाण 'आप्तमीमांसा' हमें उपलब्ध है, वह उसी 'गन्धहस्तिमहाभाष्य' का मंगलाचरण है।

आश्चर्य होता है कि जिस ग्रन्थ का मंगलाचरण ही इतना सारगर्भित हो कि उस पर अकलंक एवं विद्यानन्दि जैसे महान् आचार्यों ने अष्टशती एवं अष्टसहस्री जैसी व्याख्याएँ लिखीं तो वह पूरा ग्रन्थ (गन्धहस्तिमहाभाष्य) कैसा होगा?

काश, वह गन्धहस्तिमहाभाष्य हमें कहीं-न-कहीं मिल जाए!

2. सातवीं शताब्दी की बात है। एक बार एक श्रावक चैत्यालय में जिनदर्शन करते समय स्तुति के रूप में देवागमस्तोत्र अर्थात् आप्तमीमांसा का सस्वर पाठ कर रहा था। बाहर से आचार्य विद्यानन्द स्वामी, जो तब वैष्णव ब्राह्मण ही थे, गुजर रहे थे। वे उस स्तोत्र को मन लगाकर सुनने लग गये और पूरा सुनने के बाद बहुत अधिक प्रभावित हुये। उन्होंने यद्यपि उस श्रावक से भी उसका अर्थ पूछा था जो वह नहीं बता सका था, किन्तु बाद में वे उसे कथमपि जानकर इतने अधिक प्रभावित हुए कि जैन मुनि के रूप में दीक्षित हो गये। उनके साथ उनके सैकड़ों शिष्य भी जैन मुनि बन गये।

9. उपसंहार -

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'आप्तमीमांसा' आचार्य समन्तभद्र स्वामी की एक ऐसी अत्यन्त प्रयोजनभूत कृति है जो आप्त का सम्यक् स्वरूप समझाकर हमारा बड़ा उपकार करती है। यह कृति विविध एकान्तों को मिथ्या सिद्ध करके स्याद्वाद की स्थापना करने में भी अपना अप्रतिम योगदान प्रदर्शित करती है। इससे एकान्तरूप संकीर्ण (मिथ्या) दृष्टि का त्याग कर स्याद्वादरूप उदार (सम्यक्) दृष्टि से सम्पन्न बनने की उत्तम शिक्षा प्राप्त होती है।

स जयतु विद्यानन्दो रत्नत्रय-भूरि-भूषणः सततम्।

तत्त्वार्थार्णवतरणो सदुपायः प्रकटितो येन॥

- आप्तपरीक्षा टीका का अंतिम श्लोक

जिन्होंने तत्त्वार्थशास्त्ररूपी समुद्र को पार करने के लिए सम्यक् उपाय प्रकट किया और जो निरन्तर रत्नत्रयरूप बहुभूषणों से भूषित हैं, वे विद्यानन्दस्वामी जयवन्त हों।

परिशिष्ट (ख)

आप्तपरीक्षा की कारिकानुक्रमणिका

अनित्यत्वे तु तज्ज्ञान-	30	ततोऽन्तरिततत्त्वानि	88
अनीशः कर्मदेहेना-	24	तत्त्वान्यन्तरितानीहं	90
अन्ययोगव्यवच्छेदान्	5	तत्स्कन्धराशयः प्रोक्ता	115
अभावोऽपि प्रमाणं ते	105	तत्प्रकर्षः पुनः सिद्धः	112
अव्यापि च यदि ज्ञान-	32	तद्बाधाऽस्तीत्यबाधत्वं	53
अस्वसंविदितं ज्ञान-	37	तद्बोधस्य प्रमाणत्वे	28
इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ	124	तत्रासिद्धं मुनीन्द्रस्य	6
इत्यसम्भाव्यमेवास्या-	81	तत्स्वार्थव्यवसायात्म-	40
इत्यसाधारणं प्रोक्तं	4	तत्स्वार्थव्यवसायात्म-	75
इह कुण्डे दधीत्यादि-	42	तथा धर्मविशेषोऽस्य	17
इहेति प्रत्ययोऽप्येष	64	तथेशस्यापि पूर्वस्मा-	23
एक एव च सर्वत्र	63	तस्यानन्त्यात्प्रपतृणा-	57
एतेनैव प्रतिव्यूढः	78	तेषामागामिनां तावद्	111
एतेनैवेश्वरज्ञानं	36	तेषामिहेति विज्ञानाद्	54
एवं सिद्धः सुनिर्णीता-	109	देहान्तरात्स्वदेहस्य	20
कथं चानाश्रितः सिद्ध्येत्	62	देहान्तराद्विना तावत्	19
कर्माणि द्विविधान्यत्र	113	द्रव्यस्यैवात्मनो बोद्धुः	73
कारणान्तरवैकल्यात्	34	द्रव्यं स्वावयवाधारं	44
गत्वा सुदूरमप्येवं	39	न चाचेतनता तत्र	65
गुणादिद्रव्ययोर्भिन्न-	58	न चाशेषजगज्ज्ञानं	106
चोदनातश्च निःशेष-	94	न चासिद्धं प्रमेयत्वं	92
ज्ञाता यो विश्वतत्त्वानां	8	न चास्मादृक्समक्षाणा-	91
ज्ञानमीशस्य नित्यं चे-	27	न चेच्छाशक्तिरीशस्य	12
ज्ञानशक्त्यैव निःशेष-	13	न स्वतः सन्नसन्नापि	69
ज्ञानसंसर्गतो ज्ञत्व-	79	नागमोऽपौरुषेयोऽस्ति	103
ज्ञानस्यापीश्वरादन्यन्त	46	नानुमानोपमानार्था-	98
ज्ञानादन्यस्तु निर्देहः	77	नायमात्मा न चानात्मा	67
ज्ञानान्तरेण तद्विज्ञौ	38	नार्थापत्तिरसर्वज्ञं	102
ततो नायुतसिद्धिः स्या-	50	नार्हन्निःशेषतत्त्वज्ञो	99
ततो नेशस्य देहोऽस्ति	25	नास्तिकानां तु नैवास्ति	117

नास्पृष्टः कर्मभिः शश्वद्	9	विभुद्रव्यविशेषाणा-	47
निग्रहानिग्रहौ देहं	18	विशेषणविशेष्यत्वप्रत्यया-	56
नेशो ज्ञाता न चाज्ञाता	66	विशेषणविशेष्यत्वसम्बन्धो	55
नेशो द्रव्यं न चाद्रव्यं	68	वीतनिःशेषदोषोऽतः	120
नोपमानमशेषाणां	101	श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुत-	123
न्यक्षेणाप्तपरीक्षा	122	श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः	2
पृथगाश्रयवृत्तित्वं	45	संयोगः समवायो वा	59
पौरुषेयोप्यसर्वज्ञः	104	संवृत्या विश्वतत्त्वज्ञः	85
प्रणीतिर्मोक्षमार्गस्य	10	स एव मोक्षमार्गस्य	76
प्रणेता मोक्षमार्गस्य	11	स कर्मभूभृतां भेत्ता	110
प्रणेता मोक्षमार्गस्या	119	सति धर्मविशेषे हि	15
प्रत्यक्षमपरिच्छिन्दत्	97	सत्यामयुतसिद्धौ चे-	43
प्रधानं ज्ञत्वतो मोक्ष-	80	समवायः प्रसज्येता-	48
प्रधानं मोक्षमार्गस्य	83	समवायान्तरादवृत्तौ	52
प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थ-	1	समवायिषु सत्त्वेव	61
प्रसिद्धः सर्वतत्त्वज्ञः	7	समवायेन तस्यापि	41
फलत्वे तस्य नित्यत्वं	29	समीहामन्तरेणाऽपि	14
बुद्ध्यन्तरेण तद्बुद्धेः	31	सर्वत्र सर्वदा तस्य	35
भावकर्माणि चैतन्य-	114	सिद्धस्यापास्तनिःशेष-	16
भोक्तात्मा चेत्स एवास्तु	82	सिद्धेऽपि समवायस्य	51
मार्गो मोक्षस्य वे सम्यग्	118	सुगतोऽपि न निर्वाण-	84
मिथ्यैकान्तनिषेधस्तु	108	सुनिश्चितान्वयाद्धेतोः	96
मोक्षमार्गस्य नेतारं	3	सोऽर्हन्नेव मुनीन्द्राणां	87
मोहाक्रान्ता भवति गुरो-	121	स्वतन्त्रस्य कथं तावत्	60
यत्तु संवेदनाद्वैतं	86	स्वतः सतो यथा सत्त्व-	72
यथाऽनीशः स्वदेहस्य	22	स्वयं देहाविधाने तु	21
यदि षड्भिः प्रमाणैः स्यात्	93	स्वयं ज्ञत्वे च	74
यद्येकत्र स्थितं देशे	33	स्वरूपेण सतः	71
यन्नाहृतः समक्षं तत्र	95	स्वरूपेणासतः सत्त्व-	70
युतप्रत्ययहेतुत्वाद्	49	स्वात्मलाभस्ततो मोक्षः	116
येनाशेषजगत्यस्य	107	हेतोर्न व्यभिचारोऽत्र	89
येनेच्छामन्तरेणाऽपि	26	हेतोरस्य विपक्षेण	100